

# **DAMAGE BOOK**

UNIVERSAL  
LIBRARY

OU 186636

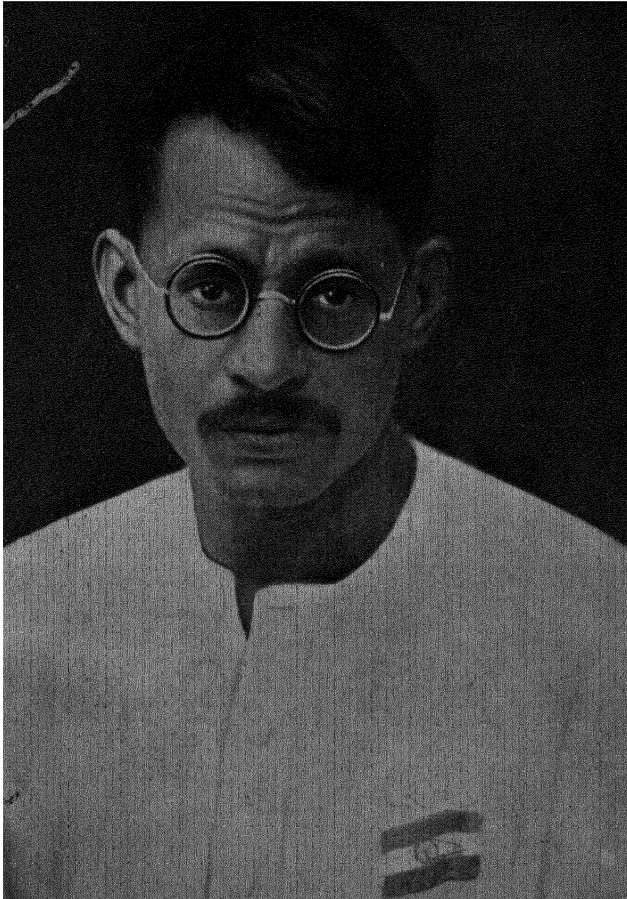
UNIVERSAL  
LIBRARY







# आज के शहीद



श्री गणेश शंकर विद्यार्थी



है. उसके हाथ में एक छड़ी भी नहीं है, लेकिन वह हत्यारों की भीड़ में अंधड़क घुस जाता है. यह देखो, वह एक मकान के सामने खड़ा हुआ है. ऊपर छत से औरतें, बच्चे और आदमी घबराई और डगी हुई नजरों से उसकी तरफ और उस भीड़ की तरफ, जो उनके मकान में आग लगाने को तुली हुई है, देख रहे हैं. मकान हिन्दू का है, भीड़ मुसलमानों की है. मुसलमान कह रहे हैं कि फ़लाँ मुहल्ले में हिन्दुओं ने मुसलमानों के इतने मकान जला डाले हैं और जब तक हम इससे दुगने मकान हिन्दुओं के नहीं जला डालेंगे, तब तक चैन नहीं लेंगे. थोड़ी ही दूर पर पुलिस के पाँच जवान बन्दूकें लिये हुए चुपचाप खड़े हैं. उनको गोली चलाने का हुकम ही नहीं है, इसलिये वह क्या करें. हिन्दू मुहल्लों में आज जो लोग मुसलमानों को मारने जलाने की तय्यारियाँ कर रहे हैं, वह ऐसी खतरनाक जगहों पर भौंकना भी पसन्द नहीं करते. वह तो चारों तरफ से घिरे हुए बेबस मुसलमानों की 'सफ़ाई' करने में लगे हुए हैं, लेकिन यह दुबला पतला आदमी ऐसी जगह ही पहुँचता है. मिट्टी के तेल का कनस्तर उसने एक बलवाई के हाथों से छीन लिया है और वह भीड़ से कह रहा है—“मेरे प्यारे भाइयो ! ज़रा सोचो तो कि तुम किस मज़हब के मानने वाले हो. क्या 'इस्लाम' यही कहता है ? क्या क़ुरान की यही तालीम है ? क्या तुम्हारे पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद ने ऐसे लोगों के साथ भी दया और मेहरबानी का बरताव नहीं किया, जो उनको क़त्ल करने पर तुले हुए थे ?”

भीड़ में से कुछ लोगों पर इसका असर होता है. लेकिन तभी एक जोशीला नौजवान आगे बढ़ कर कहता है—“ज़रा अपने हिन्दुओं की हरकतों पर भी तो शौर करो. पहिले उनको समझाओ, फिर यहाँ आना. अब हट जाओ, वरना.....”

“वरना क्या ? मुझे मार ही तो डालोगे. तो लो, मेरा सर भुका हुआ है. लेकिन अपने जीते जी मैं तुमको इस्लाम के नाम पर दाग़ नहीं

लगाने दूँगा. मैं हिन्दुओं से क्या कहता हूँ, यह जाकर उस मुहल्ले के मुसलमानों से पूछो. वह तुमको बतलायेंगे कि वहाँ से उनको किसने निकाला है. मुझे हिन्दू मुसलमान से क्या मतलब ? जो बेगुनाहों का खून कर रहे हैं क्या वह भी हिन्दू या मुसलमान हैं ?”

भीड़ खामोश है. ऊपर से सहमे हुए बच्चे और औरतें देख रहे हैं. उनके दिल धड़क रहे हैं. यह कौन है, जिसने उनको मौत के मुँह से उबार लिया है .

“तो अब आप क्या सोच रहे हैं ? आप साफ़-साफ़ बतलाइये कि आपका इरादा क्या है ?” उसने फिर भीड़ से कहा.

भीड़ से कुछ आदमी आगे बढ़ते हैं और मलायम आवाज़ में कहते हैं—“आप यक़ीन रखिये, यहाँ अब कोई गड़बड़ नहीं होगी. लेकिन आप हिन्दुओं को भी समझाइये .”

“मैं हिन्दुओं से भी इसी तरह कहता हूँ. वह जो कुछ कर रहे हैं, उसके लिये मुझे शर्मिन्दगी है. आप मेरे सर पर हाथ रखकर मुझे भरोसा दीजिये कि यहाँ के हिन्दुओं की पूरी तरह हिफ़ाज़त होगी .”

“इसका इतमीनान हम कैसे दिलायें ? गुन्डों पर हमारा क्या बस है ! हाँ, आप हिन्दुओं को यहाँ से अभी निकाल ले जायँ, तो हम अपनी हिफ़ाज़त में उनको हिन्दू मुहल्लों में पहुँचा देंगे .”

अब इस मुहल्ले से हिन्दू निकाले जा रहे हैं. वह आदमी चार चार बच्चों को गोद में लिये घिरे हुए हिन्दुओं को हिफ़ाज़त की जगह ले जा रहा है. जो भीड़ आग लगाने पर तुली हुई थी, वही उन हिन्दुओं को हिफ़ाज़त की जगह पहुँचा रही है.

भीड़ में से एक आदमी, जो शायद कानपुर में बाहर से आया था, एक दूसरे आदमी से पूछता है—“क्यों भाई ! यह है कौन ? बड़े जीवट का इन्सान मालूम होता है .”

“अरे इनको नहीं जानते ? यह हैं गणेश शंकर विद्यार्थी. ‘प्रताप’ अख़बार निकालते हैं और यहाँ के कांग्रेसी लीडर हैं. कम से कम

इउ आदमी में तअस्सुब नाम 'को भी नहीं है. मैंने भी सुना है कि इसचे बहूत से मुसलमानों को बचाया है.”

“अच्छा ?” पूछने वाले ने ताज्जुब से कहा. अब वह सोच रहा था कि सब हिन्दू भी एक से नहीं होते. उनमें कुछ शरीफ भी हैं.

और यह हिन्दू मुहल्ला है. सिर्फ एक मुसलमान खानदान यहाँ रहता था, इस वक़्त उसी को हिन्दुओं ने चारों तरफ़ में घेर रक्खा है. मुहल्ले के बड़े बूढ़ों ने मना किया, लेकिन उनकी सुनता ही कौन है ? भला धर्म के मामले में भी बड़े बूढ़ों की सुनी जाती है.

ऊपर छत से औरतें चीख रही हैं. लेकिन भीड़ हँस रही है. किवाड़ों पर कुल्हाड़े चल रहे हैं. और 'बजरंग बली की जय' के नारे लग रहे हैं. उन बजरंग बली की जय के, जो मुसीबत में घिरी हुई सीता माता के लिये अकेले ही राक्षसों की नगरी में चले गये थे और उनके ही मानने वाले खुद औरतों की इज़्ज़त लूटने को तय्यार हैं.

दरवाजा टूट चुका है. औरतें और बच्चे चीख रहे हैं. भीड़ घर में घुसना ही चाहती है कि विद्यार्थी जी यहाँ भी मौजूद हैं. वह दरवाज़ा रोक कर खड़े हो जाते हैं, “मेरे जीते जी तुम ऐसा नहीं कर सकते.”

“इन कांग्रेस वालों ने ही हिन्दू जाति का नाश किया है.” एक नौजवान बड़बड़ाता है.

“विद्यार्थी जी ! आप यहाँ तो मेहरबानी कीजिये. हमें आपके उपदेशों की जरूरत नहीं है. हमारी माँ बहनों की लाज लूटी जा रही है और आप यह उपदेश देते फिरते हैं. आपको शर्म नहीं आती.”

“शर्म तो मुझको तब आवेगी, जब आपको यह सब करने दूँ और खड़ा खड़ा देखता रहूँ. माँ बहनों की लाज का लूटना अगर आप बुरा समझते हैं, तो खुद यह काम क्यों कर रहे हैं ?”

“मुसलमानों को भी यह समझाइये न .”

“उनको भी समझाता हूँ. अभी.....मुहल्ले से चला आ रहा हूँ

वहाँ से दो सौ हिन्दुओं को निकाल कर हिन्दू मुहल्लों में मैंने अभी-अभी पहुँचाया है. यकीन न हो तो मेरे साथ चल कर देख लो. ”

“यह बहस हमें नहीं चाहिये. अब आप यहाँ से हट जाइये. बड़े आये कांग्रेसी. ” एक नौजवान ने आगे बढ़ कर विद्यार्थी जी को धक्का दिया, इस पर कुछ लोगों ने उस नौजवान को पीछे खींच लिया. उनमें कितना ही जोश हो, पर विद्यार्थी जी की बेइज्जती बर्दाश्त नहीं कर सकते .

कुछ ही देर में विद्यार्थी जी उस मुसलमान खानदान को एक मुसलमान मुहल्ले की तरफ लिये जा रहे थे. उन दिनों चौबीसों घंटे वह इसी काम में लगे रहते थे. इसमें हर एक कदम पर मौत से सामना होता था, लेकिन देश की इज्जत और बेगुनाहों की जानें उनको अपनी जान से ज़्यादा प्यारी थीं.

सरकारी अफसरों ने, फूट परस्तों ने और गुन्डों ने विद्यार्थी जी का यह काम देखा तो उनकी छाती पर साँप लोटने लगा. इसका मतलब तो यह हुआ कि यह कांग्रेसी लोग पुलिस और फ़ौज से भी ज़्यादा ताकत रखते हैं. परदे के पीछे फिर कुछ खुस फुस हुई और इस काँटे को भी हटाने का इन्तज़ाम कर लिया गया. जिसे देखकर हत्यारों के हाथ से तलवार गिर पड़ती थी, उसी की हत्या करने की साज़िश अब उन लोगों ने की, जो अपने को पढ़ा लिखा और मुहज़ज़ब कहते थे. लेकिन इस खूनी घटना को बताने से पहिले विद्यार्थी जी की जिन्दगी पर भी एक नजर डाल लें, जिससे हम समझ सकें कि हमारे देश का कितना क़ीमती हीरा उस समय हमारी ही हैवानियत से मिट्टी में मिल गया. हमने अपने कितने बड़े सेवक या कितने सच्चे और बहादुर देश भक्त का अपने ही हाथों खन कर दिया था. हायरी हमरी ज़ेहालत .

इलाहाबाद के अतरसुइया मुहल्ले में विक्रमी संवत् के मुताबिक़ क्वाब्र सुदी १४, दिन इतवार .सं० १९४७ या ईस्वी सन् १८९० में एक

मामूली खाते पीते कायस्थ खानदान में श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी का बनम हुआ था. आप के पिता जी का नाम मुंशी जय नारायण और आपकी माता जी का नाम श्रीमती गोमती देवी जी था. कहा जाता है कि जब विद्यार्थी जी माँ के पेट में थे, तब विद्यार्थी जी की नानी ने सपने में गणेश जी की मूर्ति देखी थी और इसलिये उन्होंने ही विद्यार्थी जी के पैदा होने पर उनका नाम गणेश शंकर रखा था.

विद्यार्थी जी के शुरू के ढाई बरस अपने नाना मुंशी सूरज प्रसाद जी के घर में बीते, जो सहारनपुर जेल के नायब जेलर थे. मशहूर है कि विद्यार्थी जी के नाना जब जेल से घर लौटते थे, तब जेल में बनी हुई एक छोटी सी डबल रोटी अपने प्यारे नाती के लिये रोज़ाना ले आते थे और विद्यार्थी जी उसे बड़े शौक से खाते थे. शायद जेल की रोटी की यह चाट ही उनको बार-बार जेल में खींच ले गई.

विद्यार्थी जी की शुरू की तालीम ग्वालियर में हुई, क्यों कि उनके पिता ग्वालियर रियासत के मुँगावाली कस्बे में वहाँ के एक स्कूल के सैक्रेटरी मास्टर हो गये थे. इसके बाद आपके पिताजी का तबादला भेलसा होगया. वहाँ आप अंग्रेजी पढ़ते रहे. सन् १९०७ में आपने इन्ट्रेंस पास किया.

इन्ट्रेंस पास करने के बाद भी आपने पढ़ना चाहा, इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला में आपने नाम भी लिखा लिया, लेकिन रुपये पैसे की तंगी ने आपको पढ़ने नहीं दिया. मजबूर होकर आपने पढ़ना छोड़ दिया. उस जमाने में, 'भारत में अंग्रेजी राज' किताब के लेखक और मशहूर देशभक्त पं० सुन्दर लाल जी इलाहाबाद से 'कर्मयोगी' अखबार निकाला करते थे. उस अखबार के सम्पादन में विद्यार्थी जी भी काफी मदद करते थे. शायद देश की आजादी का खयाल भी इसी जमाने में आपके दिल में पैदा हुआ.

इसके बाद किसी नौकरी की तलाश में आप कानपुर आगये, जहाँ

आपके बड़े भाई शिवब्रत जी रहते थे. ६ फ़रवरी १९०८ को आप कानपुर के करेन्सी आफिस में तीस रुपये महीने पर क्लर्क हुए. इस ज़माने में भी आप अक्सर किताबें और अख़बार पढ़ते रहते थे. इस पर एक अंगरेज अफ़सर से आपकी झपट होगई और आपने इस्तीफ़ा दे दिया .

दिसम्बर १९१० में आप कानपुर के पृथ्वीनाथ हाई स्कूल में बीस रुपये महीने पर मास्टर होगये. उस ज़माने में सुन्दर लाल जी के 'कर्मयोगी' अख़बार की बहुत धूम थी. आपका तो शुरू से ही इस अख़बार से लगाव था, इसलिये जब आप स्कूल पहुँचते, तब अक्सर आपकी जेब में 'कर्मयोगी' भी होता था. एक दिन हैडमास्टर ने आपकी जेब में 'कर्मयोगी' देखा, तो आपको ऐसे 'बगावत' फैलाने वाले अख़बार को पढ़ने से मना किया. इस पर आपने यह नौकरी भी छोड़ दी.

इसी ज़माने में आपने दो एक लेख लिखे, जो हिन्दी की मशहूर पत्रिका 'सरस्वती' में छपे. इसके साथ ही आप 'कर्मयोगी' में और 'स्वराज्य' में भी लिखते रहते थे। 'स्वराज्य' अख़बार इसके लिये मशहूर है कि बगावत फैलाने के जुर्म में कुल्लु ही महीनों के भीतर एक के बाद एक उसके सात सम्पादकों को काले पानी की सज़ा हुई थी. इसके बाद तो वह अख़बार बन्द ही हो गया. यहीं से आपको अख़बार नवीसी से दिलचस्पी हो गई और कुल्लु दिन 'सरस्वती' और 'अभ्युदय' में नौकरी करने के बाद आपने 'प्रताप' अख़बार निकालना शुरू कर दिया .

'प्रताप' का पहिला अंक ९ नवम्बर १९१३ को निकला. शुरू में वह हफ़्ते भर में एक बार निकलता था, बाद में सन् १९१६ से वह रोज़ाना निकलने लगा. लेकिन इस अख़बार के ज़रिये मालदार बनने की ज़ाहिश कभी विद्यार्थी जी के दिल में पैदा नहीं हुई. शुरू से ही 'प्रताप' अख़बार ग़रीब और बेकस जनता की आवाज़ बन गया. पुलिस

कै जुल्मों की कहानियाँ वह धड़के से छापता था और रियासती जनता पर हाने वाले राजाओं के अत्याचारों का ऐसी निडरता से परदाफ़ाश करता था कि बड़े बड़े राजा भी 'प्रताप' से दहशत खाते थे. इसके मतीजे में हमेशा विद्यार्थी जी पर कोई न कोई मुक़दमा चलता रहता था और हमारे सूबे की सरकार 'प्रताप' से लम्बी लम्बी जमानते मांग कर जत करती रहती थी. कई बार इसके लिये विद्यार्थी जी को लाखों रुपये का लालच भी दिया गया कि वह किसी खास मामले में चुप्पी साध लें. लेकिन विद्यार्थी जी ने कभी अपने मुख आराम को तरजीह नहीं दी, इसलिये ऐसे लालच उन पर क्या असर करते ? अपने उसूलों के वह इतने सच्चे थे कि कई बार, उन लोगों की खातिर, जो उनके अखबार को ख़बरे भेजते थे, वह खुद सज़ा काट आये. सरकार ने जोर डाला कि वह ख़बर भेजने वालों का नाम बतादे, लेकिन उन्होंने ने साफ़ इनकार कर दिया

जिन लोगों ने विद्यार्थी जी के साथ काम किया है, वह बताते हैं कि उनकी ज़िन्दगी भूकों मरते ही कटी. जब कभी चार पैसे होते, कोई न कोई जरूरत मन्द आकर उनको लेजाता. फ़रार क्रान्तिकारी उनके यहाँ महीनों रहते और विद्यार्थी जी किसी न किसी तरह उनकी जरूरतें पूरी करते ही थे. सरदार भगत सिंह जी भी 'प्रताप' आफ़िस में कई महीने तक रहे थे.

कोई काँग्रेसी साथी जेल चला जाता तो विद्यार्थी जी उसके खान-दान की फ़िक्र रखते थे. इस सिलसिले में ऐसे लोगों की भी उन्होंने मदद की, जो ज़िन्दगी भर उनके खिलाफ़ रहे. अगर आस पास के किसी गांव में पुलिस की ज़्यादती सुनते तो विद्यार्थी जी वहाँ जरूर पहुँचते. इस तरह जनता के अधिकारों के लिये लड़ने वाले वह एक अथक योधा थे. बेसहारे देश भक्तों के सहारे थे और कानपुर ज़िले की काँग्रेस तो उनके सहारे चलती ही थी.

विद्यार्थी जी के दिल में देशभक्तों के लिये कितना दर्द था, इसकी

एक मिसाल यह है कि काकोरी केस में जब ठाकुर रोशन सिंह जी, फॉर्सी पर चढ़ गये, तो अपने पीछे अपनी विधवा और एक जून लड़की को भी छोड़ गये। बेचारी विधवा ने बड़ी मुश्किल से लड़की की शादी तय की, लेकिन गाँव के थानेदार ने अपनी सरकार परस्ती के ज़ोम में लड़के वालों को डरा दिया और वह यह रिश्ता करने से इनकार करने लगे।

अब विधवा को बड़ी भारी परेशानी थी, लेकिन वह क्या करे ? आस पास के कांग्रेस वालों को भी खबर भेजी गई, लेकिन वह सन् १९२६ का ज़माना था, इस लिये सब चुपची साध गये। लेकिन किसी तरह इसको खबर विद्यार्थी जी को लग गई और दूसरे ही दिन विद्यार्थी जी उस गाँव में मौजूद थे। विद्यार्थी जी सबसे पहिले उस थानेदार के पास गये और उसे काफ़ी डाँट बतवाई। इसके बाद लड़के वालों से मिले। नतीजा यह हुआ कि उन्होंने रिश्ता करना मंजूर कर लिया। इसके बाद शादी के दिन विद्यार्थी जी फिर वहाँ पहुँचे और उन्होंने लड़की के बाप का काम खुद ही किया। एक खास बात यह थी कि उस थानेदार से विद्यार्थी जी ने कन्यादान की रस्म अदा कराई। इस तरह विद्यार्थी जी ने उस बेचारी विधवा की एक भारी मुश्किल आसान कर दी। आज, हममें से कितने ऐसे हैं, जो अपने शहीदों के खानदान का इतना खयाल रखते हैं ?

विद्यार्थी जी को काबालियत का तो कहना ही क्या ? जब बोलने खड़े होते तो उनका एक एक लफ़्ज़ मुनने वालों के दिलों में उतरता चला जाता था।

ऐसा ही पुरअसर लिखते भी थे।

सिर्फ इन्ट्रेन्स पास थे, फिर भी अंग्रेज़ी की कई किताबों का ऐसा कामयाब तजुमा किया कि बड़े बड़े लेखक दाँतों तले उंगली दाब गये। उनके मेहनती होने का यह हाल था कि अभी अखबार के लिये एडीटो-रियल लिख रहे हैं और अभी उस पर टिकट भी लगा रहे हैं। कभी

कभी अखबारों को खुद ही लाद कर डाकखाने तक भी पहुँचा आते थे . कॉंग्रेस के कृम में गाँवों को पैदल चल देते थे. न होता, तो साइकिल न जानने की वजह से किसी साइकिल चलाने के जानकर को साथ चलने के लिये राज़ी कर लेते और पीछे की सीट पर बैठकर बीस बीस मील चले जाते थे. उनका शरीर दुबला पतला था, लेकिन आत्मा उन्होंने लोहे की पाई थी.

अपनी उस छोटी सी ज़िन्दगी में ही उनको ऊँची से ऊँची इज़्ज़त मिली. कौन्सिल के मेम्बर रहे, कुल हिन्दू हिन्दी सहित्य सम्मेलन के सभापति रहे, सूबे की कॉंग्रेस कमेटी के प्रेसीडेन्ट रहे और जब कानपुर में आल इंडिया कॉंग्रेस का सालना जलसा हुआ, तब स्वागत कमेटी के जनरल सैक्रेट्री भी विद्यार्थी जी ही थे. कहा जाता है कि यह तमाम ओहदे उन पर जबरन थोपे गये थे, वरना इनसे वह निन्दगी भर दूर भागते रहे कभी कभी खयाल होता है कि अगर कहीं आज वह होते तो कांग्रेस वालों में जो लालच और आपा धापी मची हुई है, उसे देखकर उनके दिल को कैसी परेशानी हुई होती ? इस मामले में वह पंडित जवाहर लाल जी से मिलते जुलते थे, जिनको ताकत हाथ में रखने के लिये कभी कोई पार्टी बनाने का खयाल ही नहीं आता. उनके पास इन बातों के लिये वक्त ही कहाँ था ?

और इसी लिये तो जब उन्होंने मे देखा कि आज उनके शहर कानपुर में, सरकारी अफसर कॉंग्रेस की इज़्ज़त धूल में मिलाये दे रहे हैं और जनता उनके भुलावे में आ गई है, तो वह और कॉंग्रेसियों की तरह चुपचाप इसे नहीं देखते रहे. सन् १९४५-४६ और ४७ के हिन्दू मुस्लिम बलवों के वक्त जिस तरह हमारे बहुत से कॉंग्रेसी भाई अग़नी लीडरी बनाए रखने के लिये, जनता की हाँ में हाँ मिलाने लगे थे और अपनी अपनी क़ौम की फ़िरका परस्त जमातों में मिल गये थे, उसी तरह विद्यार्थी जी भी चाहते, तो उस वक्त हिन्दू जनता की आखों के तारे बन जाते. इसके लिये उनको अपने को खतरे में डालने की ज़रूरत

नहीं थी। बस, अपने अखबार में मुसलमानों के खिलाफ लिख देते, या हिन्दुओं की एक दो गुप्त सभायें कर लेते और उनमें तक्रारीयें भ्राष्ट्र देते। जानने वाले जानते हैं कि बल्लवों के वक्रत इसी तरह सैकड़ों आदमी अपनी क्रौम के लीडर बन जाते हैं और हज़ारों रुपये अलग पैदा कर लेते हैं। लेकिन विद्यार्थी जी ने तो वह रास्ता चुना, जिससे हिन्दू भी नाराज़ होते थे और मुसलमान भी। जब विद्यार्थी जी हिन्दुओं की हिफ़ाज़त करते, तो मुसलमान कहते, “कॉंग्रेसी बनता है, लेकिन अपनी क्रौम का पक्षपात करता है। इतने मुसलमान मारे जा रहे हैं, वहाँ नहीं पहुँचता ” और जब विद्यार्थी जी मुसलमानों को बचाते हुए दिखाई देते, तो हिन्दू कहते, “इन कॉंग्रेसियों को मित्रा मुसलमानों की खुशामद के कुछ और आता ही नहीं। हिन्दू चाहे जितने मर जायें, इनको परवाह नहीं है। लेकिन एक भी मुसलमान के चोट लग गई, तो बस इनका दम निकल जाता है। धर्म द्रोही कहीं के।”

विद्यार्थी जी दोनों की ही गालियाँ सुन लेते थे। जानते थे, इसमें इन बेचारों का क्या कसूर ? यह तो दूसरों के बहकाये हुए अपने मतलबी नेताओं के हाथों में खेल रहे हैं। इन गाली देने वालों में से न तो हिन्दू उन मुहल्लों में पहुँचते हैं, जहाँ हिन्दुओं को खतरा है और न मुसलमान उन मुहल्लों में जाते हैं, जहाँ मुसलमानों को खतरा है। इसी लिये यह नहीं समझ पाते कि मैं तो दोनों को हा बचाता हूँ। शायद किसी दिन यह समझ सकें।

और “किसी दिन” तो जनता ने, उन गाली देने वालों ने असल बात समझी ही। लेकिन कब.....?

शुरू में बताया जा चुका है कि जब विद्यार्थी जी के काम से बलवे की आग धीमी पड़ने लगी, तो उन सब लोगों के दिलों पर साँप लोटने लगे, जिनका हाथ इस बलवे में था। वैसे भी विद्यार्थी जी हमेशा उनकी आँखों में खटकते रहते थे। पुलिस नाराज़ थी, क्यों कि उसकी रिश्तत की कहानियाँ ‘प्राताप’ में रोज़ छपती थीं। सरकारी अफसर नाराज़ थे,

क्यों कि इन्होंने जरा भी बेजाब्तगी की और 'प्रताप' ने उनके कान पकड़े: जमींदार और मिल मालिक परेशान थे क्योंकि विद्यार्थी जी ने गरीब किसानों और मजदूरों की हिमायत कर कर के उनको 'शेर' कर दिया था . अब जमींदार किसान को पिटाता था, तो किसान मुकाबला करता था और मजदूरों की तनखाह घटाई जाती थी, तो हड़ताल हो जाती थी. कौंसिलों की मेम्बरी और चुंगी की चेयरमैनी से भी रईसों का रिश्ता खत्म होता जाता था और विद्यार्थी जी की 'भड़काई हुई' जनता उन लोगों को चुनने लगी थी, जो इन रईसों से दबते नहीं थे . फिर क्यों न इस काँटे को हमेशा के लिये दूर कर दिया जाय ?

श्री पद्मभि सीतारमय्या ने अपनी किताब 'कांग्रेस के इतिहास' में यह साफ़ लिखा है कि "विद्यार्थी जी को धोका देकर एक जगह ले जाया गया, जहाँ वह सच्चे सत्याग्रही की तरह बिला किसी हिचक के चले गये और फिर वही वह क़त्ल कर दिये गये." और विद्यार्थी जी के नजदीकी दोस्त पं० श्री राम जी शर्मा सम्पादक 'विशाल भारत' ने इस लेख के लेखक को अपने एक खत में लिखा है—

"विद्यार्थी जी की हत्यामें सरकारी अधिकारियों का पूरा हाथ था..."

कहा जाता है कि उनका क़त्ल मुसलमानों के हाथों से इसलिये कराया गया, जिसमें कि बलब की आग और भी ज़्यादा भड़क उठे . उनको खबर दी गई कि फ़लों मुहल्ले में हिन्दुओं को मुसलमानों ने घेर रखा है. अपने कुछ मुसलमान साथियों को लेकर विद्यार्थी जी फ़ौरन उस मुहल्ले में पहुँचे. एक हिन्दू को देग्वते ही मुसलमानों की भीड़ उन पर भपटी, लेकिन विद्यार्थी जी के मुसलमान साथी बीच में आ गये और उन्होंने भीड़ को बताया कि यह तो गणेशशंकर विद्यार्थी हैं, जिन्होंने हजारों मुसलमानों को बचाया है. इस पर भीड़ फ़ौरन रुक गई लेकिन जो लोग इसी काम के लिये तैनात किये गये थे, उन्होंने कुछ आगे जाकर विद्यार्थी जी पर फिर हमला कर दिया. वह विद्यार्थी जी को खींच कर एक गली में ले जाने लगे. लेकिन विद्यार्थी जी ने शान्ति के साथ उन

क्लातिलों से कहा—“क्यों घसीटते हो मुझे, मैं भाग कर त्जान नहीं बचाऊँगा. एक दिन मरना तो है ही. अगर मेरे मरने से आप लोगों की खून की प्यास बुझती हो, तो लो यह सर हाजिर है.”

इस पर विद्यार्थी जी वहीं कत्ल कर कर दिये गये. हमारा तमाम सजा जिसकी रोशनी से जगमगा रहा था, अपने उस दीपक को हमने अपने ही हाथों बुझा दिया .

बापू जब भी कही बलवा होने की खबर पाते थे, तभी उनको विद्यार्थी जी की याद आती थी. वह अक्सर कहा करते थे कि मैं तो गणेश शंकर जैसी मौत चाहता हूँ. और भगवान् ने गान्धी जी को ऐसी ही मौत दी.

यह थी विद्यार्थी जी की शान कि जिस गुरु के चरणों पर उन्होंने सब कुछ न्योछावर कर रक्खा था, वह गुरु भी उनकी जैसी ही मौत चाहता था. गान्धी जी कहा करते थे कि गणेशशंकर हमको सच्चे बलिदान का पाठ सिखा गया है.

काश ! हम भी अपने इस देशभक्त की जिन्दगी और मौत से कुछ सीख पाते ?

## श्री लाल मोहन सेन

कलकत्ते की आग जब धीमी पड़ गई और फूट परस्तों ने महसूस किया कि उनकी हजार कोशिशों भी अब आम-जनता को एक दूसरे के गले पर तलवार चलाने के लिये नहीं उकसा सकतीं, तो उन्होंने बंगाल के किसी दूसरे हिस्से को इस काम के लिये तलाश करना शुरू किया और इसके बाद नोआखाली में और फिर नोआखली का असर लेकर ही बिहार में इन्सानों के खून की जो होली खेली गई, उससे यह मानना ही पड़ेगा कि फूट परस्त अपनी कोशिशों में आखिर कामयाब होकर ही रहे और इस्लाम व हिन्दूधर्म के ऊँचे और सुनहरे नामों पर वह जितनी सियाही पोतना चाहते थे, उससे कहीं ज्यादा सियाही इन दोनों धर्मों के शानदार नामों पर लग गई. हाँ इस सिलसिले में इतना कह देना और जरूरी है कि नोआखाली के क्रिस्मे को दुगना, चौगुना, दस गुना और कभी-कभी तो इससे भी ज़्यादा बढ़ा कर दिखाने में हिन्दू और हिन्दी अखबारों ने इस आग को बढ़ाने में जाने या अनजाने खूब ही मदद दी और जब इसके नतीजे में बिहार में खूँरेज़ी शुरू हुई, तो उदू अखबारों ने भी यही शर्मनाक रवय्या इस्त्रतियार करके मुल्क भर में यह आग फैला दी, जिसका नतीजा सरहद, पच्छिमी पंजाब और सिन्ध के बेक़सूर हिन्दुओं को और पूरबी पंजाब व यू. पी के कुछ इलाकों की बेक़सूर मुसलमान जनता को भोगना पड़ा. लेकिन क्या कोई कह सकता है कि अब भी इन खून के प्यासों की प्यास बुझ गई है ?

नोआखाली में जो दर्दनाक घटनाएँ घटीं, उन सबके बीच वहाँ के एक

देशभक्त नौजवान श्री लाल मोहन सेन की शहादत को बंगाल का दिल कभी भूल नहीं सकेगा.

श्री लाल मोहन सेन नोआखाली के पास ही बसे हुए से द्वाप इलाके के रहनेवाले थे, और उनको होश संभालने से पहले ही देशभक्ती की चोट लग गई थी. उनके पिता महाजनी का पेशा करते थे और गाँव भर में उनको बड़ी इज्जत की निगाह से देखा जाता था. शुरू शुरू में तो लाल मोहन सेन के पिता का इरादा था कि अपने इस लड़के को वह पढ़ाने लिखाने के बजाय दूकानदारी का काम ही सिखावें, जिससे कुछ बरस बाद ही वह उनको मदद देने लगे, लेकिन लाल मोहन सेन का जेहन देखकर उनको अपना इरादा बदलना पड़ा और लाल मोहन सेन गाँव की ही पाठशाला में पढ़ने लगे. कहा जाता है कि बचपन में लाल मोहन सेन वेहद शरारती थे और उनकी बजह से उनके साथियों और स्कूल मास्टर्स का नाकों दम रहता था. लेकिन इसके साथ ही लाल मोहन सेन पढ़ने-लिखने में इतने तेज थे कि उनकी शरारतें भी सबको प्यारी लगती थी और सभी यह कहते थे कि यह लड़का आगे चलकर बहुत नाम पैदा करेगा. यह कहा जा सकता है कि लाल मोहन सेन ने उनकी इस उम्मीद को पूरा करके दिखा दिया, लेकिन ज़रा दूसरे रूप में.

गाँव की पढ़ाई पूरी हो जाने के बाद लाल मोहन सेन को आगे पढ़ाने का सवाल पैदा हुआ और वह अपने बड़े भाई के पास, जो उन दिनों चटगाँव में रह कर अपनी पढ़ाई पूरी कर रहे थे, भेज दिये गये. जिन लोगों ने हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का इतिहास पढ़ा है, वह जानते हैं कि हमारे इस इतिहास में चटगाँव एक खास हैसियत रखता है. जिन दिनों लाल मोहन सेन चटगाँव पहुँचे, उन दिनों तो वहाँ उन क्रान्तिकारियों का, जो हिंसा के ज़रिये आज़ादी लेने पर यत्नी करते थे, एक बहुत बड़ा संगठन काम कर रहा था. इस संगठन के नेता सूर्यसेन थे, जिनको उनके साथी 'मास्टर दा' के नाम से पुकारते

# आज के शहीद



श्री लाल मोहन सेन



थे, ब्रिटेन सरकार की तो सूर्य सेन और उनके साथियों की वजह से रातों की नींद हराम हो गई थी और बरसों तक वह छोटा सा शहर एक फ़ौजी अड्डा बना कर रक्खा गया. सूर्यसेन के सर के लिये सरकार ने कई हजार का इनाम बोल रक्खा था, लेकिन तब यानी सन् १९३०-३१ में बंगाल के देहातों में यह फ़िरका परस्ती का भूत नहीं घुस पाया था, इसलिये वहाँ के हिन्दू और मुसलमान चाहे ग़रीब थे, लेकिन बहादुर थे और सरकार को एक आदमी भी उस इलाके में ऐसा नहीं मिल सका था, जो सूर्यसेन को पकड़वा देता. हालाँकि सूर्यसेन चटगाँव खास और उसके आस-पास के देहातों में ही अपने संगठन का काम दिन रात करते रहते थे.

लाल मोहन सेन जब चटगाँव के स्कूल में पढ़ने लगे, तो उन्होंने सुना कि जिन देशभक्तों की बात वह अपने बड़ों से अभी तक सुनते आये हैं, उनका एक संगठन यहीं, चटगाँव में भी है. लाल मोहन ने उसी दिन से उस संगठन का पता लगाना शुरू कर दिया और न जाने कहाँ से टोह लगा कर वह एक दिन सूर्यसेन के सामने जा खड़े हुए और बड़ी निडरता से बोले—“मास्टर दा ! आप मुझे भी अपने दल में शरीक कर लीजिये.”

सूर्यसेन ने एक बार लाल मोहन को सर से पैर तक आँख भरके देखा और आदमी को छन भर में परख सकने वाले उस जौहरी ने फ़ौरन ही जवाब दिया—“अच्छी बात है. आज से तुम हमारे दल के मेम्बर हो.”

उस समय लाल मोहन की उम्र १४ साल, जी हाँ, सिर्फ़ १४ साल की थी.

सूर्यसेन के दल के बहुत से मेम्बरों को इस बात पर ताज्जुब था, कि जो मास्टर दा खूब जाने पहिचाने हुए बहुत से नौजवानों पर भी यकीन नहीं करते और उनको दल से दूर-दूर ही रखते हैं, उन्होंने इस अनजान १४ साल के लड़के पर इतना गहरा यकीन कैसे कर लिया ? पर

मास्टर दा जानते थे कि उन नौजवानों में और इस लड़के में क्या फर्क है; कुछ दिन बाद तो सब साथी भी इस बात को जान गये.

इसके कुछ ही दिन बाद मास्टर दा और उनके दल ने यह फ़ैसला किया कि गुलामी की नींद में सोते हुए अपने मुल्क को जगाने के लिये कोई ऐसा काम करना चाहिये, जिसका असर पूरे देश की जनता पर पड़ सके, और वह समझ सके कि आज़ादा की लड़ाई अभी बंदस्तर जारी है और उसे देशभक्तों के खून की ज़रूरत है. इसके लिये तय किया गया कि एक बार दिन दहाड़े चटगाँव के सरकारी हथियार खाने पर चढ़ाई की जाय और वहाँ से हथियार निकाल कर तब तक लड़ाई जारी रखी जाय, जब तक कि दल का एक भी आदमी जिन्दा रहे. यह सब लोग इतना तो समझते ही थे कि अकेले चटगाँव में दो चार दिन इस तरह लड़ाई लड़ लेने से कोई स्वराज्य नहीं मिल जायगा और इसका सौ फ़ीसदी नतीजा यही होगा कि हम सब मारे जावेंगे. लेकिन उनका तो सिर्फ़ अपने देशवासियों को एक रास्ता दिखाना था और इतने भर के लिये उन्होंने अपनी जान कुरबान कर देने का फ़ैसला कर लिया था.

यह स्कीम जब बन गई, तो सबसे पहिले रुपये का सवाल पैदा हुआ ! आखिर हथियार खाने पर चढ़ाई करने के लिये भी कुछ समान और हथियारों की ज़रूरत थी ही. अन्त में इसके लिये भी यही फ़ैसला हुआ कि यह रुपया दल के मेम्बर ही जुटायें. लाल मोहन यह फ़ैसला सुनते ही अपने गाँव को चल दिया और एक दिन जब उसके बाबा कहीं गये हुए थे, तो उनके सन्दूक से उसे जो कुछ मिला, उसने मास्टर दा के आगे लाकर रख दिया. मास्टर दा ने यह देखा तो पल भर के लिये उन पत्थर जैसा दिल रखने वाले की आँखों में भी आँसू आगये और फिर कुछ ही देर में उन्होंने लाल मोहन को जैसे छेड़ते हुए कहा—  
“मालूम होता है कि चोरा करके लाये हो.”

“चोरी है भी और नहीं भी है.” लालमोहन ने फ़ौरन जवाब दिया—  
“चोरी है, इसलिए कि बाबा के पीछे उनका सन्दूक तोड़कर रुपया

लाया हूँ और तब भी मेरा यह काम चोरी इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मैं एक खत के जरिये बाबा को यह सूचना दे आया हूँ कि रुपया मैं लिये जा रहा हूँ और यह रुपया एक अच्छे काम में ही लगेगा. इसके अलावा और चारा भी क्या था मास्टर दा ?”

कुछ ही दिन बाद माँ का एक पत्र लाल मोहन को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि इस तरह से रुपया ले जाना हालाँकि किसी तरह भी ठीक नहीं कहा जा सकता, लेकिन रुपया अगर किसी अच्छे काम में लग रहा हो, तो मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं.”

मास्टर दा ने भी यह खत देखा और वह मन में सोचने लगे कि अगर ऐसी माँ का लाल मोहन जैसा पुत्र हो, तो इसमें ताज्जुब की कौन सी बात है !

कुछ ही दिनों में जब इसी तरह रुपया इकट्ठा हो गया, तो १८ अप्रैल १९३० को चटगाँव के सरकारी हथियार खाने पर चढ़ाई हुई. लाल मोहन को मास्टर दा ने यह काम सौंपा था कि वह चटगाँव के आस-पास की रेलवे लाइन को उखाड़ दे, जिससे कि बाहर से फ़ौरन ही कोई फ़ौजी मदद यहाँ के अफ़सरों को न मिल सके. इसके बाद मास्टर दा का इस्तरार था कि लाल मोहन को अपने घर पर वापस चला जाना चाहिये.

लाल मोहन ने अपना काम बड़ी खूबी के साथ पूरा किया. १८ अप्रैल की रात को १० बजे एक तरफ़ चटगाँव के हथियार खाने पर चढ़ाई हो रही थी और दूसरी तरफ़ लाल मोहन ने अपने दो एक साथियों के सहारे धूम और मंगलकोट की पहाड़ियों के पास की रेल की तमाम पटरियाँ उखाड़ कर फेंक दीं. अपना यह काम पूरा करने के बाद वह चाहते, तो घर वापस जा सकते थे, लेकिन उनको मालूम था कि दल के जो मेम्बर हथियार खाने पर चढ़ाई करने गये हैं, वह अपना काम पूरा करके जलालाबाद की पहाड़ियों पर अपना मोर्चा लगावेंगे,

इस लिये लाल मोहन भी जलालाबाद की पहाड़ियों में जा पहुँचे और अपने साथियों से मिल गये.

जलालाबाद की पहाड़ियों में लाल मोहन के साथियो ने अपना मोर्चा बना लिया था और वह उन मामूली हथियारो के साथ ही अंग्रेजी फ़ौज का मुक़ाबला कर रहे थे, जो सामने की पहाड़ी पर तोपों और मशीनगनो के साथ जमी हुई थीं. मुक़ाबला काफी देर तक रहा, लेकिन आखिर उस पूरी फ़ौज के सामने नौजवानो की यह टोली कब तक जमती ? आखिर इस लड़ाई में ग्यारह क्रान्तिकारी और सरकारी फ़ौज के चौंसठ सिपाही खेत रहे. बाकी क्रान्तिकारी गिरफ्तार कर लिये गये, जिनमें से एक लाल मोहन भी थे.

इसके बाद मुक़दमा शुरू हुआ. चटगाँव के उस जमाने के कलक्टर मिस्टर विलिकसन, जो हथियारखाने पर हमला होने की खबर पाकर जान बचाने के लिये बन्दरगाह में जा छिपे थे, अब इन नौजवानो को ज्यादा से ज्यादा सजा दिलाने के लिये पूरी तैयारी के साथ मैदान में उतरे. कचहरी आते जाते वक्त यह नौजवान देशभक्ती में भरे हुए जो नारे लगाते थे, उनको सुनकर मिस्टर विलिकसन को बड़ी भुँभलाहट होती थी. उसी भुँभलाहट में एक दिन उन्होने लाल मोहन की पीठ पर एक हल्का सी धप जमाकर कहा—“पागल लड़के ! शोर क्यों मचाता है ?”

लाल मोहन ने पीछे मुड़कर जैसे ही साहब की शकल देखी, वह क्रोध से लाल हो गये. हथकड़ियो से जकड़े हुए अपने दोनो हाथो को वह साहब की खोपड़ी पर देही मारना चाहते थे कि साहब वहाँ से भाग खड़े हुए. इस फ़ौरी सूझ बूझ ने उस दिन ठीक वक्त पर साहब की जान बचा दी.

मुक़दमे में लाल मोहन को जिन्दगी भर के लिये कालोपानी की सजा सुनाई गई और १५ अगस्त १९३२ की शाम को एक जहाज धीरे धीरे

उनकी जन्मभूमि से उनको दूर ले चला। लाल मोहन की उस वक्त की हालत के बारे में उनके एक साथी ने लिखा है—

“एक भरोखे में लाल मोहन की आँखें अपनी जन्मभूमि की ओर लगी हुई थीं। मैंने देखा उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। अपनी जन्मभूमि का वियोग लाल मोहन को उसी तरह वेकल कर रहा था, जैसे किसी बच्चे के सामने उसकी माँ की मौत।”

अण्डमान पहुँचकर भी नौजवान लाल मोहन के दिल की आग में कोई फ़र्क नहीं पड़ा। अपनी इस जिन्दगी का एक दिन भी उन्होंने ऐसा नहीं बिताया, जिसमें उन्होंने हुकूमत के कानूनों को अपनी राजी रजा से माना हो। इसके लिये बराबर उनको सजाये मिलती रहीं और एकबार तो उन्होंने ३८ दिन की लम्बी भूक हड़ताल भी की। उस वक्त लाल मोहन एक ऐसे मुरभाये हुए फूल की तरह हो गये थे, जिसमें जिन्दगी वापस आती हुई नहीं दिखाई देती थी। लेकिन परदेशी हुकूमत भी ऐसे बड़े देशभक्त की क्रीमती जान लेने का हौसला नहीं कर सकी और लाल मोहन की शर्तें अण्डमान के अफसरों ने ठीक वक्त पर पूरी करके उनकी जान बचा ली। काश ! लाल मोहन उसी वक्त शहीद हो गये होते, तो उनको अपनी आँखों के सामने वह बातें तो न देखनी पड़तीं, जिन्होंने इस महान देशभक्त के दिल को छलनी कर दिया था।

आखिर कैद के दिन खतम हुए और पूरे १६ साल कालेपानी में बिताकर अगस्त १९४६ में लाल मोहन जेल से बाहर निकले। अब भी उनका दिल आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेने के हौसलों से भरा हुआ था। उन्होंने सोच लिया था कि इस बार वह मज़दूरों में काम करेंगे, जिससे साम्राजशाही के मुकाबले में उनका एक मज़बूत मोर्चा खड़ा किया जा सके। लेकिन सबसे पहिले उन्होंने अपनी उस माँ से मिल आना ज़रूरी समझा, जिसने लम्बे लम्बे सोलह बरस जेल की दीवारों को ताकते हुए बिता दिये थे। जब लाल मोहन यकायक अपनी माँ के सामने जा खड़े हुए, तो कुछ देर न तो माँ बेटे को पहिचान सकी और न बेटा माँ को।

लेकिन फौरन ही बेटा माँ के पैरों पर लोट रहा था और माँ उस उठाकर कलेजे से लगाने की कोशिश कर रही थी. यह राम और कौशिल्या का मिलन था, जिसके बयान में महात्मा बालमीक ने कमाल कर दिया है, फिर भी वह उसकी सही तस्वीर नहीं खींच सके हैं. १६ बरस बाद काले-पानी से लौटे हुए बेटे का मिलन ! कौन है, जो उस वक्र की खुशी की सच्ची तस्वीर शब्दों में उतार सके ? पर बेचारी माँ क्या जानती थी कि यह अभागा देश आज हैवानों का, आदमखोरों का देश बन गया है, वरना वह वियोग की आग में जलना मंज़ूर कर लेती और अपने लाल मोहन को वापस कालापानी भेज देती.

कुछ दिनों तक लाल मोहन बरसों से बिल्डुड़ी हुई अपनी बहिनों व दूसरे रिश्तेदारों से मिलने जुलने में लगे रहे. इसके बाद वह कलकत्ता वापस आना ही चाहते थे कि नोआखाली में आग भड़क उठी. भाई भाई का गला काटने लगा. यह सब इस्लाम के नाम पर किया जा रहा था. उस इस्लाम के नाम पर, जिसमें सबसे बड़ा हक़ पड़ोसी का बताया गया है. लेकिन यह एक नये क्रिस्म का 'इस्लाम' था, जिसमें पड़ोसियों को क़त्ल किया जा रहा था, उनके घरों में आग लगाई जा रही थी और उनकी औरतों को भगाया जा रहा था. लाल मोहन का दिल यह सब देखकर रो उठा और वह सोचने लगे कि क्या जिस देश के लिये उन्होंने अपनी तमाम जवानी जेल के सीखच्चों के भीतर बिता दी और जिसकी पूजा करते करते उन्होंने बड़ी से बड़ी मुश्किलों को हँसते हँसते सहन कर लिया, उसकी असली तस्वीर यही है.

उस वक्रत नोआखाली के हिन्दुओं ने भागना शुरू कर दिया था. लाल मोहन चाहते तो आसानी से भाग सकते थे लेकिन उन्होंने भागने से इनकार कर दिया और एक शान्ति कमेटी बनाकर काम करने लगे. इस कमेटी के वह खुद ही मंत्री बने और सोलह साल की जेल की भयानक तकलीफ़ों से थके हुए शरीर को लेकर इन्सान को इन्सान बनाने के काम में जुट पड़े. वह जानते थे कि आम जनता और आम मुसलमान इस

मौरकाट को नापसन्द करते हैं, लेकिन कुछ लीडरों और कुछ गुण्डों के मुकाबले में आम जनता की चल नहीं पाती. लाल मोहन इस अमन पसन्द जनता को संगठित करके बलवाइयों के खिलाफ एक मोर्चा खड़ा कर देना चाहते थे. इस काम में उनको कुछ कुछ कामयाबी भी मिली और उनके आस पास का इलाका किसी हद तक उस सत्यानासी आग से बचा रहा. लेकिन इसके नतीजे में गुण्डों की आँखों में लाल मोहन कांटे की तरह खटकने लगे. गुण्डों ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि एक तरफ तो लाल मोहन अमन की बातें करता है और दूसरी तरफ चुपके चुपके हिन्दुओं को हथियार जुटा रहा है. ऐसे वक्तों में जनता का दिमाग वैसे ही खराब रहता है. इसलिये इस बात पर यकीन भी किया जाने लगा. उधर बाहर के लोगों ने नोआखाली के क्रिस्सों को जिस तरह बढ़ा चढ़ाकर बताना शुरू किया, उसका भी जनता पर काफी बुरा असर पड़ा और जो लोग अमन की बातें करते थे, उनके दिल में भी जहर भरने लगा. लाल मोहन इन हरकतों से हैरान हो चले. उनको कभी कभी इस बात पर झुंझलाहट होती थी कि नोआखाली के मसले पर यह शोर गुल मचाने वाले यहाँ की हिन्दू जनता की मुसीबतें बढ़ाते ही हैं और खुद कायरों की तरह दूर ही दूर से तमाशा देख रहे हैं. फिर भी वह अपने काम में जुटे ही रहे.

उन दिनों पचासों बहिनों को लाल मोहन के नाम का सहारा था और पचासों खानदान उनकी हिम्मत पर जिन्दा थे. आम मुसलमानों की निगाहों में भी उनकी भारी हिम्मत थी और क्या मजाल कि लाल मोहन के रहते कोई गुण्डा बेजा हरकत कर सके. कई मुसलमान कार्यकर्ता भी लाल मोहन के काम में शरीक थे और उनकी तादाद बढ़ती ही जा रही थी.

पर यकायक एक दिन लोगों ने सुना कि लाल मोहन भी इस गुण्डा-गर्दी के शिकार हो गये. वह किसी गाँव को जा रहे थे कि गुण्डों ने उनको घेर कर मार डाला. इस तरह भारत माता का यह अनोखा लाल

खुद अपने ही देशवासियों के हाथों शहीद हो गया. अभी लाल मोहन को रिहा हुए पूरा एक महीना भी नहीं हुआ था.

अब उस माँ का हाल कौन बयान करे, जिसने अपने लाल के इन्त-जार में १६ बरस छाती पर पत्थर रख कर काट दिये थे और जो अभी उससे अपने सुख दुख की बात भी अच्छी तरह नहीं कर पाई थी. हमारे अभागे देश ने यह बदला उसकी शानदार कुरबानी का दिया था. उस दिन उस इलाके के सभी सच्चे मुसलमानों की गर्दने शर्म से झुकी हुई थीं.

लेकिन जिनके दिल में इन्सानियत नाम को भी नहीं रह गई थी, वह उसी ढर्रे पर चलते रहे और आज भी उसी ढर्रे पर चले जा रहे हैं. उनमें से ज्यादातर वह लोग हैं, जो हमेशा मुल्क की आजादी का विरोध करते रहे. इसलिये उनके दिल में इस देशभक्त की कीमत ही क्या हो सकती थी ? पर जो लाल मोहन और उन जैसे दूसरे देशभक्तों की कुर-बानियों की कीमत समझते हैं, क्या वह इस शहादत से कुछ सबक ले सकेंगे ?

— सम्पादक

## गले लग कर मरे

अभी हाल की एक खबर है कि बम्बई में एक हिन्दू ने अपने एक मुसलमान दोस्त को आसरा दिया. इससे हिन्दुओं का एक दल भड़क उठा और उसने कहा—‘अपने मुस्लिम दोस्त को हमें सौंप दो !’ हिन्दू ने अपने दास्त का सौंपने से इनकार किया. इस पर दोनों दोस्त मौत के घाट उतार दिये गये.\* मरते वक्त दोनों एक दूसरे को छाती से लगाये हुए थे. एक जानकार ने मुझे बिलकुल इसी तरह यह खबर सुनाई थी. इस खूबखबारी के बीच इस तरह की यह पहली ही मिसाल नहीं है. पिछले दिनों कलकत्ते में जो खून की नदियाँ बहीं, उनमें भी कई जगह हिन्दुओं ने मुसलमान दोस्तों को और मुसलमानों ने हिन्दू दोस्तों को अपनी जान पर खेल कर आसरा दिया था. इन्सान में देवता या फरिश्ते का जो अंश है, अगर उसकी झलक किसी भी वक्त और कहीं भी न दिखाई दे, तो इन्सानियत ( मानवता ) मर जाय.

बम्बई के बड़े वज्जीर श्री बाला साहब खेर ने बहुत जोरदार शब्दों में दो ऐसे नौजवानों की मिसाल का बयान किया है, जो यह जानते हुए भी कि वह जरूर मार डाले जायेंगे, एक मुस्लिम भीड़ का गुस्सा ठण्डा करने के लिये दौड़ पड़े थे. मौत को उन्होंने

---

\*हमें उम्मीद है कि अगले एडिशन में हम इन दोनों शहीदों की जिन्दगी के पूरे हालात दे सकेंगे. —सम्पादक

सच्चे दोस्त की तरह अपनाया. ऐसी पाक कुरबानी की कीमत बे अन्दाज़ा है. कोई हलके तरीक़े से इसका मज़ाक़ न चढ़ाये. अगर ऐसी हर एक कुरबानी का नतीजा कामयाबी हो, तो जान पर खेल जाना मामूली हंसी खेल हो जायगा. यह घटनायें हमको यही सबक़ देता है कि अगर ऐसे किससे काफ़ी तादाद में हमारे सामने आयें तो मज़हब के नाम पर बेवक़ूफी भरी मारकाट बन्द हो जाय. सबसे ज़रूरी शर्त यह है कि इसमें कहीं दिखावा या नक़ली बहादुरी न हो. हम जैसे हैं, वैसे ही दिखने की कोशिश करें.

नई दिल्ली १५-१०-४६

मोहनदास करमचन्द गान्धी

## अलीपुर डिस्ट्रिक्ट जज

( बहेन शकुन्तला प्रभाकर )

अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज बड़े नेक, समझदार और तजरबेकार आदमी थे उनका खासा बड़ा परिवार था. उनका बंगला एक शान्त हिफाजत की जगह चिड़िया घर के पीछे था.

सोलह अगस्त छुट्टी का दिन था. लीग को सरकार थी और लीग की ही तरफ से हड़ताल थी. जज साहब को उठते ही अखबार पढ़ने का शौक था. जब तक अखबार न पढ़ लें, चाय तक न पीते थे. आज सत्रह तारीख थी. अखबार का इन्तजार था. बार-बार दरवाजे की तरफ जाते और भुंभला कर लौट आते थे. बात क्या है ? अभी तक अखबार वाला नहीं आया. इतनी देर तो उसे कभी न होती थी. इतने में उनकी बड़ी लड़की आई. बोली—“चाय तैयार हैं.”

जज साहब—“चाय तैयार हो गई ? अभी अखबार तो आया नहीं. अच्छा ठहरो अभी आता हूँ.”

लड़की—“आज अखबार नहीं आयगा. कल लीग की हड़ताल जो थी.”

जज साहब—“अरे हाँ ! याद आया. आज पेपर नहीं आयगा. पहले क्यों नहीं बताया. मेरा इतना वक्त बेकार खराब किया.”

लड़की हँसती हुई अपने पापा का हाथ पकड़ कर चाय के क्लिने अन्दर ले गई.

जज साहब बंगाली हिन्दू थे. बंगले के आस पास की बस्ती भी हिन्दू बस्ती थी. सिर्फ़ कुछ छोटे मोटे मजदूर पेशावर मुसलमान फल वाले या गरीब धोत्री आस पास रहते थे. सोलह तारीख़ अमन से गुज़र चुकी थी. जज साहब को पता तक न था कि शहर में कुछ हुआ है, क्योंकि वह एक अलग स्थान में रहते थे.

जज साहब के बंगले के पीछे उनके खानसामां के घर से लगा एक मुसलमान धोत्री का घर था. धोत्री के परिवार में आठ दस आदमी थे. कई बच्चे थे. वह उन सफ़ेद पोशों के कपड़े धोकर अपने बड़े परिवार का पेट भरता था.

अचानक हिन्दुओं का एक दल साफ़ सुथरे कपड़े पहिने बड़े शोर शराबे के साथ, हाथों में डंडे, लाठी, तलवार लिये उस गरीब मुसलमान धोत्री के घर में घुस पड़ा. घर के सभी प्रानी स्त्री, बच्चे, बड़े बूढ़े कॉप गये. बात की बात में इस ज़मीन के पर्दे से उनका निशान मिट गया. न जाने कैसे एक पाँच बरस का बालक किसी तरह भीड़ का आँखों में धूल भोंकता घर के बाहर भाग निकला.

जज साहब चाय पी रहे थे. उसी वक़्त पास से शोर सुनाई दिया. वह चाय छोड़ बाहर भागे. माँ बेटा और सभी उन्हें रोकते रहे पर जज साहब रुक न सके, आ ही तो गए बाहर.

उन्होंने देखा कि एक नन्हा सा पाँच बरस का बच्चा 'बचाओ' 'कोई बचाओ' चिल्लाता उन्हीं की तरफ़ भागा आ रहा है. उसके पीछे पचास साठ का झुंड था. मासूम बच्चा कॉपता चिल्लाता छोटी सी जान लिये आँख बन्द किये दौड़ता चला आ रहा है. भीड़ पीछा कर रही है. आवाज़ें आ रही हैं—'मारो साले को, यह मुसलमान है.' 'देखो निकल न भागे यह शिकार.'

घबराया हुआ बच्चा जज साहब को आते देख उनकी तरफ़ लपका. 'बचाओ' 'बचाओ' कह कर जज साहब से जाकर लिपट गया. जज साहब ने भी 'आओ बेटा, उन्हें कोई कुछ नहीं कह सकता.' कहकर गोदी में

उठ लिया. पुचकारा और दिलासा दिया. उसकी फूल सी आँखें भरी हुई थीं. इनकी भी आँखें भर आईं.

अभी जज साहब आँखें पोलो भी न पाये थे कि भीड़ पास आ गई और शोर मचा मचा कर कहने लगी—‘इसे छोड़ दो, इसे छोड़ दो, यह मुसलमान है, यह हमारा शिकार है, इसकी जान लिये बिना हम नहीं रहेंगे.’

जज साहब—“नहीं, मैं इसे नहीं छोड़ सकता. इस नन्हे बच्चे को मार कर क्या लोगे.”

भीड़ में आवाजें आईं—“यह मुसलमान का बच्चा है, मालूम है कुछ आपको ? आप तो घर बैठे आराम कर रहे हैं. मुसलमानों ने कितने खून किये हैं, शहर में कितनी लूट मार की है ? इसे छोड़ दो, छोड़ दो, हम इसकी जान लेकर रहेंगे.”

बच्चा यह सब देख सुन सहम कर जज साहब से और जोर जोर से लिपटा जा रहा था, मानो वह उनके अन्दर घुस जाना चाहता था. उसकी आँखें डर से बन्द थीं.

जज साहब—“इसने किसी हिन्दू को नहीं मारा, यह बेकसूर है. यह किसी को मार भी नहीं सकता, किसी को मारेगा भी नहीं.”

भीड़—“यह सब हम नहीं सुनना चाहते. छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ो.”

बदले के जोश में गरम भीड़ और गरम होती चली गई. इधर इन्साफ़ और जान बचाने के जोश से गरम जज साहब भी और गरम होते गये. शेर की तरह गरज कर बोले—“नहीं, मैं इसे नहीं छोड़ सकता. अब यह मेरा बच्चा है, मेरी गोद में है, मेरा है और मेरा ही रहेगा.”

भीड़—“हम कहते हैं, और फिर कहते हैं, इसे छोड़ दो. नहीं तो तुम्हें भी जान से हाथ धोना पड़ेगा.”

जज साहब—“हाँ, मुझे मारो, इसे हाथ नहीं लगा सकते.”

आवाज़ उठी—“मारो, मारो, बड़ा बना है इन्साफ़ करने वाला.”

इस आवाज़ के खत्म होते होते जज साहब के सर पर लाठी का जमा हाथ बैठे और बगल में छुरी का वार हुआ. मासूम बच्चा फड़का, काँपा और बेहोश होकर गिर पड़ा.

भीड़ ने उसके साथ क्या किया, कलम नहीं लिख सकती, शैतान भी होता तो आँखें बन्द कर लेता.

‘बच्चा बच्चा’ कहते हुए उसके धर्म पिता के प्राण पखेरू उड़ गए. पर सकेद पोश पागल भीड़ की खून की प्यास फिर भी न बुझी. आगे बढ़ी, जज साहब के घर में घुस गयी, कोने कोने को छान डाला पर कहीं कोई मुसलमान न मिला फिर भी न प्यास बुझी, न नशा उतरा. आँसू बहाती माँ बेटी से पूछा—“बताओ मुसलमान कहां छिपा रक्खे हैं, बताओ नहीं तो मकान में आग लगाते हैं.”

मां से अब न रहा गया. रोना छोड़ फट पड़ी—“आग लगा दो, हम सबको मार डालो, अब तक यहां कोई मुसलमान नहीं था, अब सौ मुसलमान छिपे हैं, नहीं बताते. करो जो जी में आये.”

भीड़ का रंग बदल गया. वह लौट पड़ी.

परिवार अब दहाड़ मार कर रो पड़ा. अब वह अनाथ था !

जिनको यह घटना मालूम है, उन सबके दिल में यह सवाल उठता है कि हिन्दू धर्म की असली रक्षा किसने की ? उस भीड़ ने या जज साहब ने ?

# महमूद और रमज़ान

( बहेन शकुन्तला प्रभाकर )

अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज साहब की ही तरह एक और घटना भी मुझे मालूम है, जिसमें दो मुसलमान नौजवानों ने अपने हिन्दू पड़ोसियों को बचाने की कोशिश में अपनी जान दे दी. यह घटना जिनके साथ हुई, वह हमारे नज़दीकी जान पहिचान के आदमी हैं, इसलिये इस घटना की सच्चाई का तो सवाल ही नहीं है.

जिनके साथ घटना हुई, उनका नाम मानिक लाल भाई है. पहिले कानपुर में रहते थे, लेकिन कलकत्ते के सेठ लक्ष्मीराम जी की तेल मिल में एक अच्छी नौकरी मिल जाने से कलकत्ते चले आये. मकान न मिलने से कुछ दिन हमारे यहा मेहमान के तौर पर रहे, बाद में १२ अगस्त १९४६ को उन्हें मिल के पास ही, सड़क से लगे हुए एक मकान में रहने भर को जगह मिल गई. उनके घर में कुल चार प्राणी थे. वह खुद, उनकी धर्मपत्नी, एक सोलह बरस की लड़की और एक अठारह बरस का लड़का. इतने प्राणियों के लिये वह जगह काफ़ी थी.

नये मकान में गये हुए चार दिन ही हुए थे, कि १६ अगस्त आ पहुँची. लीग की तरफ़ से हड़ताल का ऐलान हुआ और इस हड़ताल का जोर मानिक लाल भाई के मकान के आस पास काफ़ी था, क्योंकि उस इलाक़े में ज्यादातर दूकानें मुसलमानों की ही थीं. मानिकलाल जी के मकाम के निचले दोनों हिस्सों में भी मुसलमान ही थे.

मकान से लगी हुई एक बनियान की दूकान थी, जिस पर महमूद और रमजान दो भाई बैठे करते थे. उनके राजनैतिक खयालात तो लीग की तरफ झुके हुए थे, लेकिन उनकी भलमनसाहत रास्ता चलते आदमी को भी मोह लेने वाली थी. १६ अगस्त को सवेरे ही उन्होंने ऊपर आकर मानिकलाल भाई से कहा कि अगर आज शाम तक के लिये आप कहीं चले जायँ, तो अच्छा रहेगा. लेकिन मानिकलाल जी बड़े निडर आदमी थे. उन्होंने जवाब दिया—“अरे ऐसी क्या बात है. आप सब लोग हैं ही. फिर हमको क्या खतरा है?”

दोनों भाइयों ने कुछ देर उनसे इसरार किया, फिर चुपचाप वापस चले गये. उनके जाते ही मानिकलाल भाई छुज्जे पर कुर्सी डाल कर बाहर का तमाशा देखने लगे.

धीरे-धीरे दोपहर के दो बजे और हवा में कुछ गर्मी सी महसूस होने लगी. तीन बजे के करीब हड़तालियों का एक बड़ा जुलूस निकला. इस जुलूस ने रास्ता चलते हिन्दू मुसाफ़िरोँ को मारना शुरू कर दिया. कुछ मकानों दूकानों में आग भी लगा दी. कुछ ही देर में इस जुलूस का एक हिस्सा मानिकलाल भाई के मकान के सामने आ पहुँचा. उस वक़्त महमूद और रमजान दोनों भाई अपनी बन्द दूकान पर बैठे हुए थे. उनको देखकर जुलूस आगे बढ़ गया. अब महमूद और रमजान ने ऊपर जाकर मानिकलाल भाई से फिर विनय की कि आप कहीं दूसरी जगह चले जाइये. अभी मौक़ा है और हम आप को निकाल सकते हैं. लेकिन या तो मानिकलाल भाई के सर पर होनी सवार थी और या बाहर निकलने के बजाय उनको घर पर रहना ज्यादा महफूज़ मालूम हुआ, इसलिये उन्होंने दोनों भाइयों को यह कह कर लौटा दिया कि आपके रहते हमको कोई खतरा नहीं है.

उस वक़्त मानिकलाल भाई ने शायद ही यह सोचा हो कि इस रस्मी जवाब से दोनों भाई अपने ऊपर कितनी जिम्मेदारी समझ रहे हैं.

कोपहरी किसी तरह कटी और शाम होने लगी. करीब पाँच बजे मानिकलाल भाई ने महसूस किया कि एक जुलूस फिर उनके मकान की ओर आ रहा है. उनका लड़का और लड़की जुलूस को देखने बाहर छुज्जे पर जा खड़े हुए. जुलूस ने भी इन बच्चों को देखा और फ़ौरन ही जुलूस से आवाजें आने लगीं—“यह तो हिन्दू हैं. इनको नीचे लाओ. यह काफ़िर के बच्चे यहाँ कैसे बचे हुए हैं ?”

मकान के निचले हिस्से में जो मुसलमान किरायेदार थे, उन्होंने भीड़ को समझाना चाहा, लेकिन ‘मजहब के दीवाने’ कभी ऐसी बेकार की बात नहीं सुना करते ! रमजान और महमूद उस वक़्त किसी और जगह गये हुए थे, इस लिये भीड़ धड़धड़ाती हुई ऊपर चढ़ गई और दरवाजे को डंडों से पीटने लगी. यह देखकर मानिकलाल भाई ने दरवाजा खोल दिया और कड़क कर बोले—“क्या बात है ? इतना शोर क्यों मचाते हो ? हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?”

भीड़ में से एक ने चीख कर कहा—“पकड़ो साले को, बड़ा शरीफ़ बना फिरता है. मार डालो.” लेकिन किसी दूसरे आदमी ने उस गुन्डे का उठा हुआ हाथ थाम कर कहा—“नहीं ! इनसे तो पैसा लेना है. मार कर हमको क्या मिलेगा.”

मानिक लाल ने पांच सौ रुपये देकर इस भीड़ से अपनी जान बचाई.

भीड़ के वहाँ से जाने के बाद ही महमूद घर लौटा और रास्ते में खोज खबर लेने के लिये वह मानिक लाल भाई के भी घर आ पहुँचा. यह घटना सुनकर उसे बहुत दुख हुआ. अब मानिक लाल भाई जाने को तय्यार भी थे, पर अब सवारी मिलना नामुमकिन था. आखिर यही फ़ैसला हुआ कि अब तो घर में ही बैठा जाय.

रात होते ही महमूद फिर आया और उसने मानिक लाल भाई के घर ही सोने का इरादा जाहिर किया. लेकिन ऐसे बलवे के वक़्त मानिक लाल भाई ने महमूद को उसके ख़नदान से दूर रखना ज्यादाती समझा

और उसे घर वापस भेज दिया. इस तरह जब पूरे कलकत्ते भर में हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के गले पर हैवानों की तरह छुरी चला कर 'अपने अपने धरम की हिफाजत' कर रहे थे, उस वक़्त मानिक लाल भाई और रमजान महमूद के बीच इस तरह की प्रेम भरी खींचातानी चल रही थी, हालां कि दोनों के बीच कोई पिछली गहरी जान पहिचान तक नहीं थी.

यह रात मानिकलाल भाई ने जागते ही काटी. सुबह हुई और ज्यों-ज्यों सूरज चढ़ता गया, त्यों-त्यों 'मारो-काटो' की आवाज़ें और बेबसों की चीख पुकार भी बढ़ती ही गई. आज हिन्दुओं ने भी अपने जौहर दिखाने शुरू कर दिये थे. दलील यह थी कि बलवाई मुसलमानों से अपनी हिफाजत का सिर्फ़ यहाँ इलाज है. लेकिन तमाशा यह था कि बलवाई मुसलमान अपने हल्के में घिरे हुए जिन हिन्दुओं को नुक़सान पहुँचा सकते थे और पहुँचा रहे थे, वहाँ इन 'वीर हिन्दुओं' में से कोई भाँकता भी नहीं था और अपने हल्के में घिरे हुए जिन इक्के दुक्के मुसलमानों पर यह अपनी वीरता दिखा रहे थे, वह मुसलमान चाह कर भी हिन्दुओं को क़तई नुक़सान नहीं पहुँचा सकते थे. खुद बलवा पसन्द मुसलमान भी यही चाहते थे कि हिन्दू हल्कों में घिरे हुए मुसलमान मारे जायें, जिससे उन 'शद्दार मुसलमानों' का मुँह बन्द किया जा सके, जो उनको लूटमार करने से मना करते थे. इस वक़्त दोनों तरफ़ के गुण्डों के पौवारह थे और इस नायाब मौक़े से वह ज़्यादा से ज़्यादा फ़ायदा उठा लेना चाहते थे. इसीलिये हिन्दू और मुसलमान दोनों में ऐसी अफ़वाहों का जोर था, जिससे बलवा अपने असली रूप से सौ गुना ज़्यादा भयानक हो गया था. यह अफ़वाहें दोनों तरफ़ के जोश को उभाड़ने में शराब का काम दे रही थीं और जो लोग इन अफ़वाहों पर यक़ीन न करने के लिये समझते थे, वह सब 'शद्दार' करार दे दिये गये थे.

इस दिन मानिक लाल भाई के मक़ान पर फिर एक हमला हुआ और मानिक लाल भाई ने कपड़े और बर्तन देकर अपनी जान बचाई. मानिक लाल भाई समझ गये कि अब जान बचनी मुश्किल ही है.

इसी दिन यानी १७ अगस्त की शाम के पाँच बजे एक भीड़ फिर मानिक लाल भाई के मकान पर पहुँची, दरवाजे पर हथौड़े पड़ने लगे, नीचे के मुसलमान पड़ोसी भीड़ की खुशामद कर रहे थे, लेकिन उनको डाँट दिया गया और वह चुपचाप अलग खड़े हो गये। मानिक लाल भाई ने यह ख्याल करके कि दरवाजा तो टूट ही जायगा, खुद ही दरवाजा खोल दिया, उनकी सोलह बरस की लड़की अपने बाप की हिफाजत के लिये मानिक लाल भाई के पास आकर खड़ी हो गई, उसे देख कर मजहब के दीवाने गन्दी से गन्दी बातें करने लगे, मानिक लाल भाई बेबस बने यह सब सुन रहे थे, कुछ क्षणों के बाद गुण्डों ने सलाह की कि पहले इस बुडूटे को तो ठिकाने लगा दिया जाय, औरतों का बँटवारा पीछे हो जायगा, अब भीड़ ने मानिक लाल भाई को बाहर खींचने की कोशिश की ही थी कि दो मुसलमान नौजवानों ने भीड़ को चीर कर रास्ता रोक लिया और गरज कर बोले—“खबरदार ! जो किसी ने हाथ लगाया, माल चाहिये तो माल ले जाओ, लेकिन इन बेबस इन्सानों पर हाथ नहीं डाल सकोगे।”

यह महमूद और रमजान थे, जो मानिकलाल भाई के घर पर हमला होने की खबर सुनकर अपने घरों से भाग कर आये थे।

अब भीड़ से और महमूद से बहस होने लगी, महमूद कुरान शरीफ के हवाले पर हवाले दे रहा था कि उसमें अल्लाताला ने किस तरह अपने पड़ोसियों और दूसरे मजहब के लोगों से अच्छा बर्ताव करने का सबक दिया है और भीड़ हिन्दुओं के जुल्मों की मिसालें दे रही थी, महमूद कहता था कि जिन हिन्दुओं ने जुल्म किया है, उनसे चल कर लड़ो और मैं तुम्हारा साथ दूंगा, इस पर भीड़ झल्ला उठी, फौरन कुछ नौजवानों ने लोहे के मोटे डन्डों से महमूद को पीट पीट कर नीचे गिरा दिया, मजहब के काम में जो रुकावट डालो, भला उसे जिन्दा रहने का क्या हक ? कुछ ही देर में महमूद की खून से लथपथ लाश पड़ी हुई थी।

रमजान ने अपने भाई को इस तरह से गिरते हुए देखा और समझ

लिया कि अगर उसने भी भीड़ को रोका तो उसकी भी यही हालत होगी। फिर भी भीतर जाकर उसने माँ, बेटे और बेटी को एक कमरे में बन्द कर दिया और खुद उसके दरवाजे पर पैर जमा कर खड़ा हो गया। भीड़ जैसे ही आगे बढ़ी उसने अपने रास्ते में रमजान की शकल में इस दूसरी दीवार को पाया। लेकिन धरम और दीन के दीवाने कहीं ऐसी मुश्किलों को मुश्किल समझते हैं ? फ़ौरन ही रमजान पर भी वार होने लगे और कुछ ही देर में वह भी अपने भाई से जा मिला। मानिकलाल भाई का सब परिवार अब बाँध लिया गया और उनको नीचे सड़क पर ले जाया गया, जिससे कि उन सबको ज़रा तड़पा तड़पा कर मारा जा सके। कम से कम एक दूसरे के क़त्ल को तो वह देख ही सकें, बहादुरी का ज़ुबान इस वक़्त अपनी आखिरी हद पर पहुँचा हुआ था।

मानिकलाल भाई और उनका सब खानदान सड़क पर खड़ा कर दिया गया। अब बहस यह थी कि पहिले किसे ठिकाने लगाया जाय। बाप को या बेटे को ? माँ और बेटी को तो क़त्ल करने का कोई सवाल ही नहीं था, उनको तो सिर्फ़ यह तमाशा दिखाना था। यह बहस किसी फ़ैसले पर पहुँची ही थी कि फ़ौजी लारियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी और गोलियों की आवाज़ें आने लगीं। बस, इन आवाज़ों का आना था कि मज़हब के दीवाने वीर भाग खड़े हुए। रमजान और महमूद के समझाने पर और क़ुरान शरीफ़ के हवालों पर जो नहीं मानना चाहते थे, उनकी बहादुरी का तमाम जोश बन्दूक की एक आवाज़ ने ठंडा कर दिया। इस तरह मानिकलाल भाई और उनका खानदान मौत के किनारे पहुँच कर भी बच गया।

फ़ौजियों ने इस खानदान को अपनी लारियों पर चढ़ाया। लेकिन, तभी मानिकलाल की बीबी लारी से उतर कर ऊपर की ओर भागीं। फ़ौजियों ने उनको रोकना चाहा तो उन्होंने कहा कि मेरे दो बेटों की लाशें तो ऊपर पड़ी हैं, अरे उनको एक बार आँख भर कर देख तो लेने दो।”

फ़ौजियों को दया आ गई और वह पूरे खानदान को ऊपर ले गये।

वहाँ यह खानदान महमूद और रमज़ान की लाशों पर इस तरह बिलख बिलख कर रोया कि कुछ देर के लिए मकान की दीवारें भी पिघलती जान पड़ीं। नीचि के मुसलमान पड़ोसी हैरान थे, कि जब पूरा खानदान बच गया है, तब इस तरह 'हाय हाय' क्यों मचा रहा है. उन्होंने अन्दाज़ लगाया शीयद माल के लिये. हाँ सचमुच माल के लिये पर यह तो वह ब्राद में जान सके कि यह "माल" किस तरह का था और कितना क़ीमती था.

फिर यह खानदान बड़ा बाज़ार के थाने में पहुँचा दिया गया, वहाँ पाँच दिन रहने के बाद उसे एक दोस्त के यहाँ पनाह मिल गई.

आज भी मानिकलाल भाई और उनका पूरा खानदान कलकत्ते में ही है. जब भी सोलह अगस्त आती है, मुसलमानों के ज़रिये बरबाद हुए उस खानदान के दिल में दो मुसलमान नौजवानों के लिये आंसू उमड़ पड़ते हैं, जिनकी वजह से वह आज भी इस दुनिया में हैं. माँ और बेटी तो यह सोच कर ही काँप उठती हैं कि अगर रमज़ान और महमूद अपनी जान देकर उनकी हिफ़ाज़त न करते तो आज उनकी क्या गति होती.

महमूद की दूकान भी आज वहीं पर है. उस पर रमज़ान और महमूद की प्यारी शकलें अब नहीं दिखाई देतीं, पर जब भी वहाँ से निकलती हूँ कोई यह कहता जान पड़ता है—

“बहेन ! मुसलमान कैसे होते हैं और इस्लाम क्या है, इसका अन्दाज़ा उन लोगों से मत लगाना जो उस वक़्त तुम्हारे अज़ीजों की जान और इज़्ज़त के गाहक हो रहे थे. इस्लाम की तालीम का एक छोटा सा नक़शा हमने अपने खून से खींच दिया है, और सच मानो कि इस्लाम की सच्ची तालीम यही है.”

और मुझमें तो ताक़त नहीं कि अपने इन दोनों शहीद भाइयों के इस सन्देश को मानने से इनकार कर सकूँ.

[ नीचे लिखा खत अहमदाबाद के भाई हेमन्त कुमार ने ८ जुलाई १९४६ को बापू को लिखा था—सम्पादक ]

“कल के दंगे में श्री बसन्तराव हेंगिष्टे और जनाब रजब अली का दंगा रोकने की कोशिश करते हुए एक साथ, एक जगह खून हो गया. पहले वह दंगे को दबाने के लिये रिची रोड ( गांधी रोड ) की तरफ रवाना हुए. रास्ते में उन्होंने देखा कि हिन्दुओं का एक दल किसी मुसलमान का खून करने के लिये उस पर टूट पड़ा है. उन्होंने हमलावर हिन्दुओं से कहा—“पहले हमी को मार डालो, फिर इन्हें मारना.” अपने इन दृढ़ता भरे शब्दों और ऐसे मजबूत रुख की वजह से वह उस मुसलमान को बचा सके. वहाँ से वह सूबा कांग्रेस कमेटी के भद्र वाले मकान पर पहुँचे. वहाँ उन्हें मालूम हुआ कि जमालपुर में एक हिन्दू मुहल्ले के चारों तरफ मुसलमानों की बस्ती है और वहाँ के हिन्दुओं की जान और माल खतरे में है. इसलिये वह मुसलमानों को समझाने चल पड़े. वहाँ दोनों पर खंजरो से सखत हमले किये गये और दोनों वहीं काम आये. हिन्दू मुसलमान दोनों का खून साथ ही बहा. श्री बसन्त राव कोई ३२ साल के जवान थे. सन् १९३० में धरासना के हमले के वक्त से वह कांग्रेस की लड़ाइयों में हमेशा शामिल होते रहे थे. वह हिन्दुस्तानी सेवा दल के एक अगुआ थे. जनाब रजब अली भी भावनगर और धंदूका के एक खास काम करने वाले थे. उन्होंने भी कांग्रेस की लड़ाइयों में खासा हिस्सा लिया था. वह भी हिन्दुस्तानी सेवा दल के मेम्बर थे. उनकी उम्र करीब २५ साल की थी.

“इस तरह एक हिन्दू और एक मुसलमान ने हाथ से हाथ मिला कर दंगे का शुद्ध अहिंसक दंग से सामना किया और अपनी जान कुरबान करके दोनों शहीद हुए.”

## बाबा साहेब बसन्तराव हेंगिष्टे

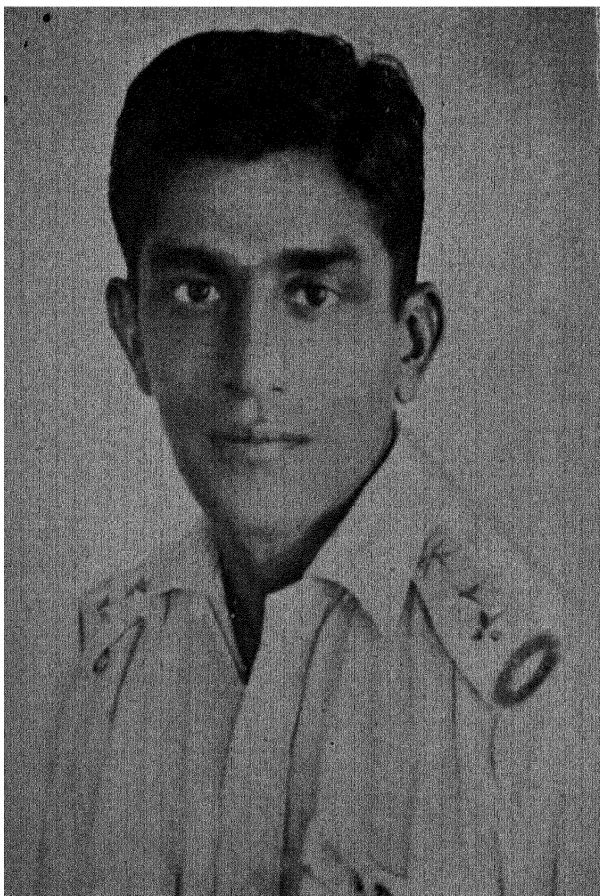
[ अहमदाबाद में जब हिन्दू मुसलमान धर्म और दीन के नाम पर एक दूसरे का गला काट रहे थे और कायरों की तरह अन्धेरी गलियों में छुरेबाज़ी कर रहे थे, तब दादा बसन्तराव हेंगिष्टे और श्री रजब अली नाम के दो नौजवान दोस्तों ने इस आग को ठण्डा करने के लिये अपने अनमोल प्राणों का दान दिया था. सचाई और अहिंसा की तलवार लेकर यह दोनों जीवन-मरन के साथी अपने प्यारे हिन्दू धर्म और इस्लाम की लाज बचाने के लिये इन्सान का खून बहाने वाले गुण्डों के मुक्ताबले में अचल रूप से आ खड़े हुए थे और फिर हँसते हँसते शहीद हो गये थे. इन दोनों शहीद भाइयों की कथा बसन्तराव जी की सगी बहिन श्रीमती हेमलता हेंगिष्टे ने अपने आँसुओं से गुजराती में लिखी है, जिसका नीचे दिया हुआ आज़ाद तर्जुमा विजयगढ़ ( अलीगढ़ ) के एक बुजुर्ग श्री बाबा रूपकिशोर जी जैन ने किया है. अहमदाबाद के दोस्तों ने तो इन शहीदों की याद में गुजराती और मराठी ज़बान में एक बड़ी किताब निकाली है, जिसमें इन शहीदों के मुख्तलिफ़ दोस्तों और अज़ीज़ों ने इनकी शहादत पर अपनी श्रद्धा ( अक्कीदत ) के फूल चढ़ाये हैं. हमको चाहिये कि हम इन शहीदों की क़ीमत को समझें और जहाँ जहाँ इस तरह की घटनायें हुई हों, वहाँ पर मुक्कामी तौर पर इसी तरह की किताबें 'बड़ी तादाद में निकाली जायँ. हमको यह याद रखना चाहिये कि उस घंटाटोप अन्धेरे के वक्त्रत, जब हम हृद दर्जों की कमीनी कायरता को बहादुरी, सबसे बड़े पाप को धरम और सबसे बड़ी गद्दारी को देशभक्ती

समझ कर अपने देश, धरम और इन्सानियत की जड़ें तक खोद डालने के लिये तय्यार थे, तब हमारी गालियाँ खाते हुए भी हमको सही रास्ते पर लाने की कोशिश में अपनी जान तक कुरबान कर देना कोई आसान काम नहीं था. यह तो जीते जी अपने को आग में भोंकना था. ऐसी ऊँची कुरबानी और शहादत का जज़्बा इनमें कैसे पैदा हो सका, इसका जवाब इन शहीदों की खास तौर पर बाबा साहेब बसन्तराव हेगिष्टे की याद में लिखे गये उनकी बहेन के इस लेख से मिल जाता है, जिससे साबित होता है कि बसन्तराव जी एक बड़े देशभक्त होने के साथ साथ कितने बड़े ईश्वर भक्त थे और उनको अपने हिन्दू धर्म पर कितना गहरा यक़ीन और उसके लिये अपने दिल में कितना अभिमान था. बहेन हेमलता जी के इस लेख के लिये मैं उनका एहसानमन्द हूँ.—सम्पादक ]

“तीन कार्यकर्ता—दो हिन्दू और एक मुसलमान—दंगा मिटाने के खयाल से गये और इसी काशिश में काम आये. मुझे उनकी मौत का दुख नहीं होता, रूलाई नहीं आती. इसी तरह श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने कानपुर के दंगे में अपनी जान कुरबान की थी. दोस्तों ने उनको रोका और कहा था—‘दंगे की जगह न जाइये. वहाँ लोग पागल हो गये हैं. वह आपको मार डालेंगे.’ लेकिन गणेश शंकर विद्यार्थी इस तरह डरने वाले नहीं थे. उन्हें यक़ीन था कि उनके जाने से दंगा जरूर मितेगा. वह वहाँ पहुँचे और दंगे के जोश में पागल बने लोगों के हाथों मारे गये. उनकी मौत का समाचार सुनकर खुशी ही हुई थी. मैं तो आपको यह समझाना चाहता हूँ कि आप मरने का सबक सीख लें तो सब ख़ैर ही ख़ैर है. अगर गणेश शंकर विद्यार्थी, बसन्तराव और रज्जब अली जैसे कई नवजवान निकल पड़ें तो दंगे हमेशा के लिये मिट जायँ.”

—बापू.

# आज के शहीद



श्री बसन्त राव हेगिष्टे



# भैया बसन्तराव हेंगिष्टे की याद में

( बहेन हेमलता हेंगिष्टे )

बसन्तराव को घर के तमाम लोग बाबा साहेब कहते थे और इसमें कोई शक नहीं कि बसन्तराव अकल और धीरज में हम सभी से बढ़ चढ़ कर था भी. आज उनकी याद को उकसाने वाली बहुत सी घटनाओं को नज़रन्दाज़ करके मैं सिर्फ़ कुछ घटनाएँ लिख रही हूँ.

एक बार हमारी दादी माँ बीमार थीं. उस वक़्त बाबा साहेब जेल में थे. यह बात जून १९३० की है. दादी माँ को बाबा साहेब से बढ़ा प्रेम था और साथ ही, बड़ी होते हुए भी, वह उसे बड़ी इज़्ज़त की निगाह से देखने लगीं थी, क्योंकि बाबा साहेब बहुत ही चुस्त, जोशीले और कट्टर गान्धी भक्त थे. चूँकि बाबा साहेब सत्याग्रह में भाग ले रहे थे, इसलिये बहुत से लोग उनकी बड़ी इज़्ज़त करने लगे थे. एक दिन मेरी तबियत बहुत बिगड़ी. सोचा, दादी माँ शायद इस बार नहीं बचेंगी. दादी माँ कहती थीं—“अब हमारा साधु जल्द ही छूटने वाला है. मुझे कैसी ही तकलीफ़ हो, लेकिन अन्तकाल में तो मुझे शान्ति ही मिलेगी.” हुआ भी यही. बाबा साहेब जेल से छूटे नहीं कि दादी माँ का प्रान पखेरू उड़ गया. ऐसा लगा, जैसे बाबा के छूटने की खबर के इन्तज़ार में ही उनके प्रान अटके हुए थे.

बाबा साहेब को दादी माँ क्या, हम तमाम घर के लोग ऐसे ही प्यार और श्रद्धा की नज़र से देखते थे.

दूसरी बात, जो मुझे आज बार बार याद आती है, उस वक्त की है, जब मैं चार बरस की थी, तब गान्धी जी दान्डी यात्रा को जा रहे थे और उनके साथ जाने वालों में से एक हमारे पिता जी भी थे। लेकिन ऐसी भीड़ में मुझे भला कौन ले जाता ? मेरी खुद किसी से कहने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। लेकिन रात को मैंने बाबा साहेब से डरते डरते पूछा—“क्या मुझे भी कल इस यात्रा को दिखा दोगे ?” बाबा साहेब ने तुरन्त मेरी बात मान ली।

दूसरे दिन बाबा साहेब के साथ मैं यात्रा देखने चली, तो आसानी से गान्धी जी के पास तक पहुँच गईं। पीछे तो लाखों की भीड़ हो गईं। आखिर इतनी भीड़ हो गई कि चलना मुश्किल हो गया। इस पर कठिनाई यह थी कि हमें नदी पार करनी थी, जिसमें काँटे और कंकर पत्थर बहुत थे। फिर भी बाबा साहेब मुझे नदी पार तक ले ही गये।

दूसरों को सुखी देखने और उनकी इच्छा पूरी करने के लिये बाबा साहेब शुरू से ही कभी अपने निजी सुख-दुख, सुविधा असुविधा का खयाल ही नहीं करते थे।

जब हम भाई बहन और घर के दूसरे लोग एक साथ बैठकर बात चीत करते थे, तब बाबा साहेब जिस धीरज से हमारी बातें सुनते थे और जिस मीठेपन और अक्लमन्दी से उसका जवाब देते थे, उसकी याद आते ही आज भी मेरा कलेजा टुकड़े टुकड़े होने लगता है।

बाबा साहेब के बचपन की एक घटना भी लिखने लायक है, जिसे याद करके उनकी ज़िन्दगी में वह खुद और हम सब खूब ही हँसते थे, लेकिन आज तो वह भी हमारी आँखों में पानी ही लाती है।

घटना यह है कि हमारे यहाँ एक मास्टर थे जिनकी यह आदत थी कि वह अपने विद्यार्थियों को अजीब अजीब नामों से पुकारते थे, जिससे विद्यार्थी बहुत शर्माते और चिढ़ते थे। बाबा साहेब बचपन में शरीर से बेहद दुबले पतले थे, इसलिये मास्टर साहब उनकी तन्दुरुस्ती का ही मज़ाक उड़ाया करते थे और उनको पीटते भी बहुत थे। इस पर बाबा

साहेब को अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने की धुन सवार हुई. जब हम सब उनसे इस बारे में पूछते, तो वह कहते कि छः महीने के भीतर भीतर मुझे इस मास्टर को जरूर पीटना है. इसके लिये अपने शरीर को तन्दुरुस्त कर रहा हूँ. पर बाबा साहेब का यह खयाल पूरा नहीं हो सका, क्योंकि भगवान् ने मास्टर साहेब को यह मियाद खत्म होने से पहिले ही, बाबा साहेब से उनकी हिफाजत करने के लिये अपने पास बुला लिया. लेकिन बाबा साहेब की वह धुन जारी रही और आखिर में तो उनका शरीर इतना मजबूत हो गया था कि वह मोटर को अपनी छाती पर से उतार लेते थे.

इसी तरह एक बार उनको तलवार चलाना सीखने की धुन सवार हुई. उसका अभ्यास करते हुए एक बार उनको तलवार का ज़रूम लग गया. जो उस्ताद उनको तलवार घुमाना सिखाते थे, वह भी उस ज़रूम को देख कर सहम गये और उन्होंने डाक्टर को बुलाया डाक्टर ने उनको आराम करने की सलाह दी. लेकिन बाबा साहेब उसी तरह काम करते रहे, जिसे देख कर डाक्टर भी चकित रह गया. बाबा साहेब तब कहा करते थे कि शरीर मजबूत होते ही मेरा मन भी मजबूत हो गया है.

अगर वह अपने मन में कभी कोई कमजोरी पाते थे, तो उस पर उनको बड़ी शर्म महसूस होती थी. एक बार जेल में उनको मलेरिया हुआ. डाक्टरों ने इस पर कुनेन दी. लेकिन बुखार छूटता ही नहीं था. इस पर भी बाबा साहेब खुद ही पाखाने वगैरह की जरूरतों से फ़ारिश हो लेते थे. किसी दूसरे को अपने लिये तकलीफ़ देना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया. लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि उनको सर्दी लग गई और उनको ऐसा महसूस होने लगा कि अब वह अपने घर ज़िन्दा नहीं लौट सकेंगे. यह खयाल करके एक बार उनकी आँखों में आँसू आ गये. लेकिन दूसरे दिन जब बुखार कुछ कम हुआ तब उनको अपने मन की इस कमजोरी पर बेहद शरम आई. इस तरह से अपनी कमजोरियों की वह हमेशा कड़ी जाँच पड़ताल करते थे, तभी तो

वह उस भयानक आग में ऐसी आसानी से कूद गये, जैसे फूलों की देदी पर बैठ रहे हों।

कभी कभी वह बड़ी अनोखी बातें कर दिखाते थे. उसी जेल में होने वाली मलेरिया की ही कहानी है. उसने उनका पीछा जेल से छूटने पर भी नहीं छोड़ा. हमारे घर में डाक्टरी दवा बहुत ही कम आती है और कुदरती इलाज पर ही सबका यक़ीन है. बाबा साहेब का भी इसी ढंग से काफ़ी इलाज हुआ, लेकिन जूड़ी ने पीछा नहीं छोड़ा. इस पर आब-हवा बदलने के लिये वह रत्नागिरी चले गये, लेकिन पूरे ढाई महीने तक वहाँ रहने पर भी उनकी सेहत में सुधार नहीं हुआ. आखिर फिर वापस अहमदाबाद आ गये और जब एक दिन इस रोज़ रोज़ की जूड़ी से बहुत परेशान हो गये, तो पलथी मार कर एक पत्थर पर जा बैठे और प्राणायाम करते हुए तमाम रात उसी पत्थर पर बैठे रहे. बस उसी दिन से उनको जूड़ी का आना भी छूट गया.

हमारे दादा बड़े ईश्वर भक्त थे. उनकी इस विरासत को बाबा साहेब ने पूरी तरह संभाला और उसकी हिफ़ाज़त की. दादा जी की किताबों में से 'रामायण' 'महाभारत' वगैरह निकाल कर वह बचपन से ही पढ़ा करते थे. लेकिन किसी बात पर आँख मीज कर यक़ीन कर लेने की आदत उनमें नहीं थी. वह जब छोटे थे तो 'रामायण' पढ़ते वक़्त अक्सर पिता जी से, "राम ने सीता को क्यों छोड़ दिया था?" जैसे सवाल पूछ बैठते थे. हर एक बात को अक़ल की कसौटी पर कसने की आदत उनमें आख़ीर तक रही.

हिम्मत तो उनमें गजब की थी. सत्याग्रह के ज़माने में मीठानगर की छावनी पर पुलिस ने जब हमला किया, बाबा साहेब निहत्थे ही पुलिस की लाठियों के सामने जम गये. घर में खबर आई कि बहुत चोट लगी है. दादी माँ तो इस खबर को सुन कर रोने लगीं और ईश्वर से प्रार्थना करने लगीं कि हे प्रभो ! इस बालक की रक्षा करना. परोपकार के काम में गया है, सो उसे जीता जागता वापस ले आना."

प्रभो ने प्रार्थना सुन ली और बाबा साहेब को जैसे दूसरी ज़िन्दगी मिली, वह जब घर वापस आये और कपड़े उतार कर नहाने बैठे, तो चोटों से काले पड़े हुए उनके शरीर को देख कर सबकी आँखों से आँसू बहने लगे। इस पर बाबा साहेब हँसकर बोले—“भला लाठी की मार खाकर स्ट्रेचर पर मज्जे में सोजाने में भी कुछ मेहनत पड़ती है। लाठी खाने में तो बड़ा मज़ा आता है और देश के काम की लगन भी बढ़ती है।”

बाबा साहेब के स्वभाव की उदारता की भी एक घटना लिख दूँ। एक बार बाबा साहेब की सोने की घड़ी बाबा साहेब के पास रहने वाले एक स्वयं सेवक ने चुरा ली। हमारे मकान में माणिकलाल नाम के एक किरायेदार रहते थे, वह फ़ौरन ताड़ गये कि घड़ी उस स्वयं सेवक ने ली है। लेकिन बसन्तराव के डर से वह उससे कुछ ज़्यादा पूछ ताछ न कर सके। लेकिन जब बाबा साहेब बाहर गये, तब माणिकलाल ने उस स्वयं सेवक के सामान की तलाशी ली और उसके चखें में, जहाँ रुई की पूनियाँ रक्खी थीं, वहाँ से घड़ी बरामद कर दिखाई। इसके बाद माणिकलाल ने उस स्वयं सेवक को खूब लानत मलामत की, पर बसन्तराव ने उससे एक शब्द भी नहीं कहा। कुछ दिनों बाद बाबा साहेब फिर उसी आदमी को बड़े प्रेम से अपने घर लाये और खाना खिलाया। दूसरों के बारे में वह हमेशा इसी तरह की भावनाएँ जाहिर करते थे।

बाबा साहेब को तरह तरह की कलाओं में भारी दिलचस्पी थी, हमारे यहाँ गणेश जी का त्यौहार मनाया जाता है। सन् १९३० तक बाबा साहेब अपनी गणेश जी की मूर्ति को बड़ी सुन्दरता से सजाते थे। गाने, बजाने, तस्वीरें बनाने, अभिनय करने में उन्होंने खासी तरक्की की थी। कुदरती इलाज में उन्होंने अभ्यास किया था और घर में कोई बीमार पड़ता था, तो बड़ी लगन से उसका इलाज वह खुद ही करते थे, जिसमें उनको सौ फ़ीसदी कामयाबी होती थी।

बाबा साहेब को कुश्ती लड़ने का भी शौक था। कई अच्छी कुश्तियाँ उन्होंने जीती थीं। कभी-कभी किसी कमज़ोर और मामूली पहलवान को

हिम्मत देने के लिये उससे जान बूझ कर हार भी जाते थे. हमारे देश का बच्चा बच्चा मजबूत बने, यही लगन उनको दिन रात रहती थी.

घर में जब कोई अछूत आता था, तो वह उसे प्रणाम करते थे. जाति पाति का भेद भाव तो उनके दिल में नाम को भी था ही नहीं. एक बार जेल से एक पठान को वह ऐसा दोस्त बना कर निकले कि अगर पठान से कोई उनकी बात पूछता, तो पठान बताता कि मैं इनका नौकर हूँ. वह जिससे एक बार मिल लेते थे, बस वह उनका ही हो जाता था.

आखिर ७ जुलाई १९४६ का दिन भी आया. शहर भर में उन दिनों भारी मार काट मच रही थी. लेकिन रज्जब भाई के साथ बाबा साहेब बाहर को चले. किसी ने पूछा—“कहाँ जा रहे हो?” तो बाबा साहेब ने कहा—“मेरे रास्ते में रोड़े मत बनो. जहाँ मेरी जरूरत है, वहाँ मैं जरूर जाऊँगा.”

करीब साढ़े पाँच या छह बजे बाबा साहेब घर लौटे. वह पानी पीने के लिये आये थे. मैं अभागिन पूछ बैठे—“कॉग्रेस हाउस में क्या पानी पीने को नहीं था?” इसका कोई जवाब नहीं मिला. मैंने देखा कि वह फिर चल देने के लिये चप्पल पैर में डाल रहे हैं.

इसके घन्टे भर बाद सात-साढ़े-सात बजे यह दिल दहलाने वाली खबर मिली, जिसे सुन कर हम सबने सर पीट लिया. हम सब फ़ौरन अस्पताल पहुँचे. वहाँ हमने देखा कि उनका सोने का सा शरीर निर्जीव हुआ पड़ा है. चेहरे पर न कोई डर था न रंज. आँखें खुली हुई थीं और होठों पर मुस्कराहट थी, मानो मौत के साथ भी हँसी मज़ाक चल रहा था.

इस तरह हमारा बाबा साहेब हमेशा के लिये हमसे बिलुप्त गया. वह हँसते हँसते सदा के लिये सो गया और हम अभागे जिन्दगी भर रोने के लिये बाक़ी रह गये.

## रज्जव भाई

( बहेन हेमलता हेंगिठे )

रज्जव अली को हम रज्जव भाई कहते थे. वह सिर्फ एक महीना ही हमारे घर पर रहा था, लेकिन इतने थोड़े वक़्त में ही वह हम सब में ऐसा हिल मिल गया था कि हम सब उसे अपने घर के ही आदमियों में शुमार करते थे, इसके बाद वह अपने एक दोस्त के यहाँ चला गया. जो नतरंगपुरा में रहते थे. लेकिन हमारे यहाँ वह उसी नियम से आता था. अक्सर जब वह खाना खाने बैठता, तो “यह चीज़ किस तरह पकाई है, इसमें कौन कौन से विटामिन हैं ?” वगैरह सवाल किया करता था, जिसमें खासा हँसी मज़ाक रहता था.

हम सब कभी कभी रात को एक साथ बैठकर गप-शप किया करते थे. रज्जव भाई की आदत थी कि उस गप शप के बीच वह गणित के पेचीदा सवाल पूछा करता. जब हम लोग उन सवालों का जवाब न दे पाते तो उनको बड़े अच्छे ढंग से समझाता था. फ़िज़ूल की गप शप में भी हमको कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिये, शायद इसी भाव से वह ऐसा करता था.

सपनों के बारे में वह बड़ी दिलचस्पी से बात करता था. इस बारे में उसने काफ़ी पढ़ा और काफ़ी विचार किया था. इसलिये जब सपनों के बारे में वह बातचीत करने लगता, तो ऐसा मालूम होने लगता था कि जैसे कोई बहुत बड़ा पंडित बोल रहा है. सपने क्यों आते हैं, उनका

हमारी जिन्दगी पर क्या असर पड़ता है, या क्रुदरत के साथ उनका क्या ताल्लुक है, यह सब बातें वह बड़ी सफ़ाई के साथ इस तरह समझा देता कि एक मामूली बच्चा भी समझ जाय. उसकी बुद्धि को देख कर हम सब ताज्जुब करते थे.

हमारे घर आते ही वह पहिले हमारी एक बहेन बिजुनी को तलाश करता था, क्योंकि वह बड़ी शैतान थी. इसके बाद ऐसी खींचातानी और भाग दौड़ होती कि हँसते हँसते पेट फूल जाता था. यह बात याद रखने की है कि रज्जव भाई में हमेशा खिलाड़ी पन रहा. खुद हँसने और दूसरों को हँसाने के लिये ही जैसे वह हमारे घर आता था.

२४ अप्रैल १९४६ को हमारे घर जव बसन्त का त्यौहार मनाया गया, तो उसमें रज्जव भाई को भी 'बुलाया गया. उस दिन वह रात को भी घर पर ही रहा और हम सब बड़ी देर तक बातचीत करते रहे. उस वक़्त हममें से कौन जानता था कि कुछ ही दिनों में हम अपने इस प्यारे भाई की सूरत देखने के लिये भी तरसा करेंगे और यह हमेशा के लिये हमारी आँखों से ओझल हो जावेगा.

आज भी उसकी याद हमारे दिल में टीस सी पैदा कर देती है.

# प्रतिज्ञा

शचीन दा—

आँखों के आगे से तेरी चमकीली सूरत खिसक गई,  
पर दिल के कोने में घुस कर वह आज और भी चिपक गई.  
थी चाह निराली एक स्वर्ग का राज बसाने की भारी,  
बन गई तुम्हारी कुरबानी उस राज महल की ही ताली.

हाथों में लेकर फूल और आँखों में यह आँसू भर कर  
आयेंगे सब मिल कर शहीद की,

इस अनुपम पावन समाधि पर,  
जो लगा दिया है तूने अपने खूँ से,  
यह लाल तिलक हम लोगों के माथे पर,  
उसे कभी मिटने नहीं देंगे—  
रक्खेंगे सर पर आँखों पर.

—प्रताप कुमार बसु

[ शहीद शचीन्द्रनाथ के एक साथी प्रताप कुमार बसु ने ऊपर दी हुई कविता बंगला में लिखी थी. उसका हिन्दुस्तानी अनुवाद भाई भगवान मिश्र ने किया है, शहीद के खून का हमारे माथे पर जो टीका लगा हुआ है. उसे हम कभी नहीं मिटने देंगे. यही प्रतिज्ञा हम सबको भी आज के दिन करनी चाहिये—सम्पादक ]


## श्री शचीन्द्र नाथ मित्र

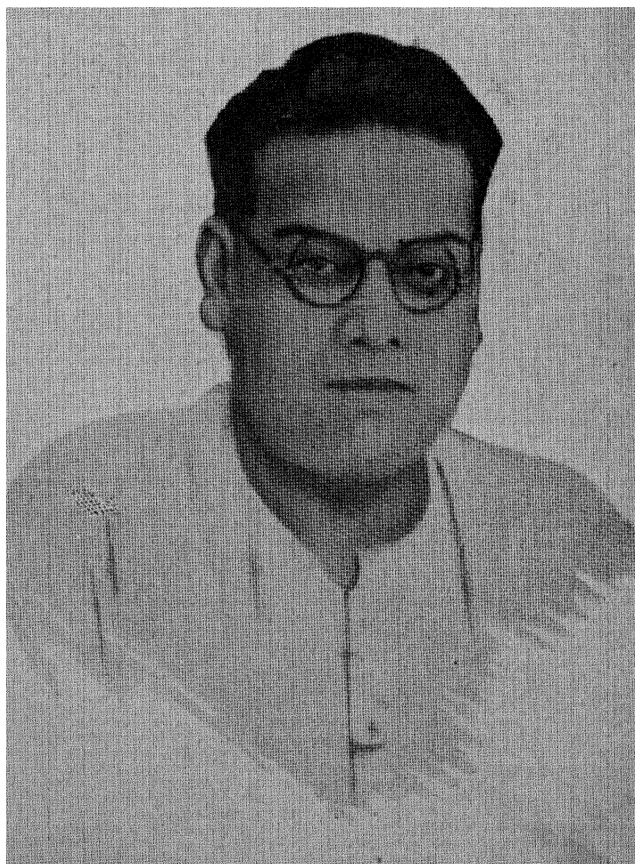
[ शचीन मित्र मर कर भी अमर हो गये हैं. ऐसी मौत पर दुख की जगह आनंद मनाना चाड़िये,—चापू ]

१५ अगस्त १९४७ को मिलने वाली हिन्दुस्तान की आज़ादी को महफूज़ रखने के लिये भारतमाता के जिस पुत्र ने सबसे पहिले अपने को शहीद किया था, वह थे श्री शचीन्द्रनाथ मित्र. १ सितम्बर १९४७ से कलकत्ते की सड़कें जब हिन्दू-मुस्लिम बलवों से एक बार फिर भयानक हो उठीं और डर, बेएतमादी व हत्याओं की आग वहाँ धधक उठी. तब शचीन्द्रनाथ इस आग को बुझाने के लिये खुद ही इसमें कूद पड़े थे.

श्री शचीन्द्र की यह कहानी जितनी दुख भरी है उससे भी ज़्यादा वह हमारे देश को गौरव देने वाली है. भाई-भाई के मिलाप की जो फ़िज़ा १५ अगस्त को देखने में आई थी, वह एक पखवारा बीतते न बीतते फिर आपसी फूट और मारकाट में बदल चली थी. शान्ति और प्रेम के अवतार गान्धी जो को फूट परस्तों के एक गिरोह ने बेइज़्जत करने की कोशिश करके तप्तम देश के माथे पर कलंक का टीका लगा देने की जहालत दिखाई थी. कलकत्ते की जनता अपने बेचस भाइयों और पड़ोसियों की हत्या के पाप भरे काम में पूरी तरह डूब चली थी. चापू ने इस जनता को सही रास्ते पर लाने के लिये अनशन शुरू कर दिया था.

आपसी फूट और मारकाट से हाथ में ही मिली हुई आज़ादी को

आज के शहीद 



श्री शचीन्द्र नाथ मित्र



बेकार बना देने या फिर से खो देने की भेद भरी साज़िश की गई थी और धड़कामयाब सी भी हो चली थी. इस साज़िश को नाकामयाब बनाने और अपने भोलेपन व जोश की वजह से इस साज़िश में शरीक जनता को इस पाप भरे काम से हटाने के लिये आज़ादी के सच्चे सिपाहियों की पुकार हुई और तब हमारे देश के इस कठिन संग्राम में, जो विदेशी हुकूमत से चलने वाली लड़ाई से कहीं ज़्यादा भयानक था, सबसे पहिले आगे आने वाले श्री शचीन्द्र ही थे.

श्री शचीन्द्र देश की पुकार को अनसुना न कर सके. करते भी कैसे ? जिसने बचपन से ही देश सेवा के काम में अपने तन-मन को खपाया हो, वह देश की दुर्गति के वक्रत हाथ पर हाथ धरे कैसे बैठा रह सकता था. आज़ादी की लड़ाई में अगले मोर्चे में रहने वाले शचीन्द्र आज़ादी की हिफ़ाज़त के लिये लड़ी जानेवाली इस लड़ाई में भला कैसे पीठ दिखा सकते थे ? उनकी ज़िन्दगी के साथ वह पूरा इतिहास था, जिसमें इस बहादुर नौजवान ने अड़तीस बरस की छोटी सी उम्र में ही कभी विद्यार्थियों के आन्दोलन में नेता बनकर, कभी आज़ादी की लड़ाई में एक सिपाही की हैसियत से, कभी गान्धी जी के प्रेम सन्देश के प्रचारक के रूप में, कभी संगठन के मैदान में एक अच्छे संगठन करने वाले कार्यकर्ता की शकल में और हाल में ही समाजवाद की नई धारा में अगुआ बनकर पूरे बंगाल को जगमगाये रखने की अनगिनती कहानियाँ थीं. उनके इन तमाम शानदार कामों के पूरे ब्यौरे को शायद वह लोग तो जान भी न सकेंगे, जिनको श्री शचीन्द्र से निजी जान पहिचान रखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका और मेरे लिये इन बेजान अक्षरों में उनकी ज़िन्दगी और उनके कामों व उनके ऊँचे खयालात की तस्वीर खींच देना भी एक मुश्किल काम है, फिर भी मैं इसके लिये कोशिश करूँगा, जिससे कि आगे की पीढ़ियों को देश के दुश्मनों से देश की हिफ़ाज़त करने का बल मिले और इस अमर शहीद के साथ काम करने वालों को और उनके पीछे चलने वालों को उनकी उम्र की उम्र की गमती निगमती

का शान हो जाय, जो वह उनके हाथों में दे गये हैं और श्री शचीन्द्र के अजीजों और रिश्तेदारों के साथ तमाम देश अपने इस शहीद की सही क़ीमत जान सके.

ज़िला चौबीस परगना ( बंगाल ) के मजीलपुर-जयनगर गाँव में ता० ३१ दिसम्बर १९०६ शुक्रवार के दिन श्री शचीन्द्र का जनम हुआ था. श्री शचीन्द्र के पिता श्री नरेन्द्र नाथ मित्र अपने ज़माने के एक मशहूर अटर्नी थे, लेकिन श्री शचीन्द्र जब सिर्फ़ चार बरस के थे, तब उनके पिता चल बसे और शचीन्द्र के लालन पालन का तमाम बोझ उनकी पूजनीय माता जी पर आ पड़ा, जो एक योग्य महिला थीं.

श्री शचीन्द्र को शुरू की तालीम टाउन स्कूल में मिली. इस ज़माने में ही आपने स्टडी सर्किल खोले थे, लाइब्रेरी क्लायम की थी और हाथ के लिखे अखबार भी निकाले थे. सन् १९२५ में 'प्रवेशिका' का इम्तहान पास करके आपने कलकत्ते के स्काटिश चर्च कालेज में अपना नाम लिखा लिया. इस ज़माने में आपने विद्यार्थियों के संगठन में काफ़ी काम किया. एक तरह से तो यह भी कहा जा सकता है कि बंगाल में विद्यार्थी संगठन की नींव डालने वालों में एक आप भी थे. इस सिलसिले में स्काटिश चर्च कालेज में आपने 'स्टूडेंट यूनियन' क्लायम की और उसके पहिले सदर आप ही चुने गये. १९२६ में जब साइमन कमीशन हमारे देश में आया था, तो उसके बायकाट में कलकत्ते के विद्यार्थियों ने जो भारी हिस्सा लिया था, उसके अगुआ आप ही थे. पुलिस के दमन के खिलाफ़ कलकत्ते के विद्यार्थियों ने जो भारी हड़ताल की थी, उसके नेता भी श्री शचीन्द्र ही थे, जिसके नतीजे में दूसरे चार सौ विद्यार्थियों के साथ आपको भी कालेज से निकाल दिया गया था. इस पर तमाम बंगाल के विद्यार्थी समाज ने भारी नाराज़गी ज़ाहिर की थी. इस तरह आप ज़िन्दगी के हर लमहे में इनक़लाब का त्रिगुल बजाते रहे थे.

उस ज़माने में स्काटिश कालेज के प्रिन्सपल मिस्टर क्यायरन थे, जो श्री शचीन्द्र को एक ज़हीन विद्यार्थी समझकर बड़ी मुहब्बत की नज़र

से देखते थे. उन्होंने श्री शचीन्द्र की माँ को एक खत लिखा जिसमें उन्होंने सलाह दी कि आप शचीन्द्र को माफ़ी माँगने के लिये समझायें, जिससे वह फिर कालेज में दाखिल हो सके. लेकिन शचीन्द्र की माँ ने जवाब दिया—

“मेरे बेटे ने कोई कसूर तो किया नहीं है, फिर मैं उससे माफ़ी माँगने को क्यों कहूँ.”

और ऐसी माँ की कोख से शचीन्द्र जैसा बहादुर लड़का हुआ, तो इसमें ताज्जुब ही क्या ?

स्काटिश कालेज से निकाले जाने के बाद श्री शचीन्द्र रिपन कालेज में दाखिल हुए और वहाँ से सन् १९२६ में आपने इज्जत के साथ बी० ए० पास किया.

इसी जमाने में आप एस० एन० मुखर्जी एण्ड कम्पनी में ट्रेनिंग क्लास में दाखिल हो गये. इस कम्पनी के ट्रेनिंग क्लास में दाखिल होने वाले विद्यार्थियों में सबसे पहिले दल में आप भी एक थे. इसके साथ ही आपने आल बंगाल स्टूडेन्ट्स यूनियन की नींव डाली और उसकी वार्किंग कमेटी के एक मेम्बर रहे. इसके अगले साल आप यूनियन के प्रेसीडेन्ट चुने गये. इस तरह उस छोटी से उम्र में ही बंगाल भर के विद्यार्थियों ने अपना सबसे बड़ा नेता आपको चुना था.

१९३० में जब गान्धी जी ने कानून तोड़ने की लड़ाई छेड़ी, तब आपकी स्टूडेन्ट्स यूनियन ने ऐसे लिटरेचर को पढ़ कर कानून तोड़ने का फ़ैसला किया, जो सरकार ने ज़त कर लिया था. श्री० जे० एम० सेन गुप्त ने इस काम के लिये खास तौर पर विद्यार्थियों में प्रचार किया था. इस फ़ैसले के मुताबिक, कालेज स्कायर में श्री शचीन्द्र की सदारत में एक सभा हुई, जिसमें बंगाल के सबसे बड़े उपन्यास लिखनेवाले स्वर्गीय शरत् बाबू का मशहूर उपन्यास ‘पाथेर दावो’ जिसे बंगाल सरकार ने ज़त कर रक्खा था, सरे आम पढ़ा गया. इसी जुर्म में, आप गिरफ़्तार कर लिये गये और आपको क़ैद की सज़ा दी गई.

जब आप जेल में ही थे, तब आपकी माता जी का इन्तकाज हो गया। श्री शचीन्द्र के ऊपर यह कोई मामूली चोट नहीं थी, क्योंकि चचपन से ही श्री शचीन्द्र ने सिर्फ़ माँ का दुलार ही पाया था। लेकिन श्री शचीन्द्र इस चोट को हँसते हँसते भेल गये। करीब छै महीने के बाद ज्यादा बीमार हो जाने की वजह से आप जेल से छोड़े गये।

इसके बाद १९३१ की कराची कांग्रेस में आप शरीक हुए और वहीं से आपने कुल हिन्दुस्तान में विद्यार्थियों के संगठन का काम शुरू किया। इसके साथ ही आपने यूथ लीग के संगठन में भी हिस्सा लेना शुरू किया और बंगाल की यूथ लीग का बोझ अपने सर पर उठा लिया।

इस ज़माने में आपने बंगाल के बहुत से हिस्सों का दौरा किया और इसमें संगठन के काम में बहुत मदद मिली, और इसके साथ ही जनता ने पहली बार यह महसूस किया कि श्री शचीन्द्र कितना अच्छा बोलते हैं और कितनी मेहनत से अपना काम पूरा करते हैं। 'इंडिया टुमारो' नाम के एक अखबार में सहायक सम्पादक भी आप इसी ज़माने में रहे।

१९३२ में जब फिर कानून तोड़ने का आन्दोलन चला, तो आप और आपके बड़े भाई, दोनों ही कैद कर लिये गये। आपकी 'समिति' के दफ़्तर पर भी सरकार ने ताला डाल दिया और बहुत सा सामान पुलिस उठाकर भी ले गईं। करीब एक साल बाद आप रिहा किये गये और तब आपने फ़ौरन ही 'बंगल सेवा दल' का संगठन शुरू कर दिया। इसी ज़माने में आपकी वह ट्रेनिंग पूरी हो गई, जो आप मुखर्जी एन्ड कम्पनी में ले रहे थे। इसकी ऊँची तालीम पाने के लिये आप १९३३ में इंग्लैंड चले गये। इंग्लैंड पहुँचकर आपने हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के संगठन का काम किया। इस ज़माने में आल इंडिया यूथ लीग ने लन्दन के लिये आपको अपना नुमायन्दा चुन दिया था। इंग्लैंड रहते वक़्त आप अक्सर बंगाल के 'भावी काल' और अंग्रेज़ी के 'वायस आफ़ दी यूथ' अखबार में लेख लिखते रहते थे।

कुछ दिन बाद आप लंदन के 'लंदन स्कूल आफ़ इकॉनिमिक्स' में

दाखिल हो गये, लेकिन इस स्कूल का पढ़ाई खत्म करने से पहिले ही आप बीमार मड़ गये और कई महीने तक स्विट्ज़र लैंड के एक अस्पताल में पड़े रहे.

१९३४ में आप हिन्दुस्तान लौटे और यहाँ आकर आपने बीमा का काम शुरू किया. कुछ दिनों तक आप बीमा के बारे में निकलने वाले एक अंग्रेजी अखबार के सम्पादक रहे. इसके बाद आप एक विलायती बीमा कम्पनी में एजेन्टों के इन्सपेक्टर के पद पर रहे. अपनी इस नौकरी के साथ ही आप 'फ्रील्ड' नाम का अंग्रेजी अखबार भी निकाला करते थे. अमिताभ मित्र के नाम से उस अखबार का सम्पादन भी आप ही करते थे. कम्पनी ने जब इस अखबार पर एतराज किया, तब आपने अखबार बन्द कर दिया. इसके बाद आपने इस कम्पनी की नौकरी छोड़ दी और एक देशी बीमा कम्पनी में पहुँच गये. इस बार 'फ्रील्ड' अखबार को 'फ्रील्ड मैग' के नाम से आपने निकाला और सम्पादक की जगह अपना असल नाम ही दिया.

१९३८ में कुछ दोस्तों की मदद से आपने 'सिटी आफ कलकत्ता' नाम से एक बीमा कम्पनी खोली और बीमा एजेन्टों की तालीम के लिये एक स्कूल भी कायम किया.

धीरे धीरे श्री शचीन्द्र बीमा की दुनिया के नेता हो गये और हिन्दुस्तान की सभी बीमा कम्पनियों ने आपको अपना नुमायन्दा चुना. इसी हैसियत से 'बीमा कानून' की मुखालकृत में आप एक बार लार्ड लिनलिथगो से मिले. लार्ड लिनलिथगो पर आपकी बहस का इतना असर पड़ा कि बीमा कम्पनियों की माँगें मंजूर कर ली गईं.

यूरोप से लौटने के बाद इस जमाने तक आपने हिन्दुस्तान की राजनीति से एक दम हाथ खींच लिया था और रहन सहन भी आपका बिलकुल ही साहबी हो गया था. लेकिन सन् १९३६ में आप जैसे अपनी इस खामोशी से खुद ही घबरा उठे और भारतमाता की सेवाओं के इतने दिनों के कर्ज को मय सूद के चुकाने के लिये उनके प्रान तड़फड़ाने

लगे. इस बार गान्धीजी के उसूलों की रोशनी ने उनको अपनी ओर खींचा और आप गान्धी जी की लिखी हुई किताबों का गहरा मुताला करने लगे. एक बार कुछ शंकाओं को आपने गान्धीजी के पास लिख भेजा. जवाब में गान्धीजी ने लिखा—

“भेरी किताबों को सावधानी से पढ़ो. फिर भी कोई शंका रहे, तो दो महीने बाद मुझे लिखना.”

१९४० में जब जाती सत्याग्रह शुरू हुआ, तब पिछली मिनिस्ट्री के ज़माने में जो फ़सली लोग कांग्रेस में भर गये थे, वह कांग्रेस से हटने लगे. श्री शचीन्द्र उस ज़माने में कांग्रेस से अलग रहे थे, लेकिन इस वक़्त वह उससे अलग कैसे रह सकते थे. इस ज़माने में दिन रात उनके दिल में एक आग सी धधका करती थी और वह अक्सर अपने मिलने जुलने वालों से कहा करते थे—

“हमने देश के लिये क्या किया है ? देश में फैले हुए इस अंधेरे को मिटाकर हम इसे रोशन क्यों नहीं कर पा रहे हैं ? देश में गुमराह नौजवानों को हम क्यों नहीं समझा पा रहे हैं ? कांग्रेस के पाँछे तमाम देश को खींच लाने में हमें कामयाबी क्यों नहीं मिल रही है ? हममें ऐसी क्या कमी है ?”

असल में वह इन सवालों का जवाब खुद अपने दिल से चाहते थे.

इसके बाद शचीन्द्र नाथ १९४२ के आन्दोलन में कूद पड़े. उन्होंने इस तूफ़ान के वक़्त विद्यार्थियों की बागडोर अपने हाथ में ली. वह कालेजों और होस्टलों में घूम घूम कर विद्यार्थी समाज को भारत माता की पुकार सुनाने लगे. कुरवानी की दावत लेकर उन्होंने घर घर के दरवाजे खटखटाये. कलकत्ते के विद्यार्थियों ने इस तूफ़ान में जो हिस्सा लिया था, वह सब शचीन्द्र की कोशिशों का ही नतीजा था. अक्टूबर १८ अगस्त को वह पकड़ लिये गये और दमदम जेल में पहुँचा दिये गये.

दमदम जेल में उनकी ज़िन्दगी में एक गहरा परिवर्तन हुआ और उनका मन धर्म शास्त्रों में ज्यादा रमने लगा. वह दिन रात गीता, सप्तशर्ता, योग वशिष्ट, उपनिषद्, पुराण, कुरान वगैरह रुहानी किताबों में ही डूबे रहने लगे. अपनी रोज़ाना की ज़िन्दगी को भी वह इसी साँचे में ढालने की कोशिश करने लगे. इससे उनका दिल एक स्वर्गीय रोशनी से जगमगा उठा और इस जपतप से उनके मन में शक्ति और खुद एतमादी के अनगिनती भरने फूट उठे, जो उनके मन में नये नये अंकुर पैदा करने लगे.

इसी जेल की ज़िन्दगी में उन्होंने डाक्टर राधाकृष्णन की 'कल्कि' और मिस्टर रेमार्क की 'फ्लट-साम' नाम की किताबों का बंगला में तर्जुमा किया.

यह सब करते हुए भी आप अपने जेल के साथियों की बड़ी भारी खिदमत किया करते थे. नौजवान साथियों को उनकी ज़रूरत की चीजें दिलाना, उनके पढ़ने के लिये अच्छी किताबें मँगवाना, उनके इम्तहान दिलाने का इन्तजाम करना, उनके लिये व्याख्यान माला का सिलसिला चलाना वगैरह न जाने कितनी ज़िम्मेदारियाँ श्री शचीन्द्र ने अपने सर ले रखी थीं. इसीलिये साथी कैदी आपको 'दमदम यूनीवर्सिटी' का वाइस चान्सलर कहा करते थे.

१९४४ में आप जेल से छोड़े गये, लेकिन साथ ही यह बन्दिश लगा दी गई कि आप कलकत्ता से बाहर नहीं जा सकते. जेल में ही श्री शचीन्द्र को यह पक्का यक़ीन हो गया था कि अगर देशवासियों में स्वराज्य की सच्ची ख़्वाहिश पैदा नहीं की गई और कॉंग्रेस के कार्यकर्ताओं को गान्धी जी के उसूल अच्छी तरह नहीं समझाये गये, तो इस देश का उद्धार होना मुश्किल ही है. फिरक़ा परस्ती के उभार के वक़्त जिस तरह बहुत से कॉंग्रेसी इस दलदल में खुद जा फँसे और फूट फैलाने वाले फिरक़ा चाराना संगठनों से हमदर्दी रखने लगे थे, उससे यह साबित होता है कि

उस दूरन्देश सच्चे देशभक्त ने असलियत को कितनी सच्चाई के साथ महसूस कर लिया था.

इसी ज़माने में उनके दिल में यह भी खयाल पैदा हुआ कि उनको सिर्फ़ सियासी कामों में ही नहीं लगा रहना चाहिये. वह मुख्तलिफ़ कामों में हाथ बँटाने लगे. इस सिलसिले में उन्होंने समाज की जो क़ीमती सेवएँ कीं, उनकी वजह से दूसरे दूसरे हलक़े के लोग उनकी तरफ़ खिंचने और उनके असर में आने लगे. इस काम के लिये श्री शचीन्द्र को सिर्फ़ तीन साल का वज़त मिल सका लेकिन इस छोटे से ज़माने में ही उन्होंने जनता का हित करने वाला क़ितनी ही नई संस्थाएँ खोल दीं और कितने ही नये काम शुरू कर दिये. सच बात तो यह है कि इन तीन बरसों में ही शचीन्द्र पूरी तरह खिले और उनके दिल और दिमाग़ की ताक़त अपने बेहतर से बेहतर रूप में इसी ज़माने में जनता के सामने आई.

१९४४ में शचीन्द्र 'बंगीय छात्र संसद्', जो बंगाल के विद्यार्थियों का सबसे बड़ा संगठन है, के सभापति चुने गये. एक लम्बे अरसे के बाद विद्यार्थियों को अपना प्यारा पुराना नेता फिर मिल गया. उनका सभापति बनना था कि 'संसद्' में नई जान पड़ गई. अपने मीठे स्वभाव के कारन शचीन्द्र बाबू विद्यार्थियों और नौजवानों के बीच बड़ी इज़्ज़त और प्यार की नजर से देखे जाते थे. कभी शचीन्द्र बाबू अपनी भावुकता के उभार में ऐसी बातें कह जाते थे कि वह सुनने वालों के दिल पर अमिट अक्षरों में लिख जाती थीं. एक बार उन्होंने अपने साथियों से रुँधे हुए गले से कहा था—

“भाइयो ! माता का रिन चुकाओ. जिस माँ के प्यार दुलार में पल कर तुम इंसान बने हो, उसकी हालत पर तो ग़ौर करो. सभी देशों में वहाँ के नौजवान ही देश की भलाई के कामों में आगे बढ़ कर हिस्सा ले रहे हैं. तुम भारत की जवानी को कलंक न लगा देना !”

१९४३ में जो भयानक दमन हुआ, उसके असर से देश बेजान हो

गया था. जनता उदास और डरी हुई थी. ऐसी हालत में शचीन्द्र ने जेल से छूटने वाले कई साथियों को लेकर कलकत्ता कांग्रेस वर्कर्स यूनियन बनाई; इसके कुछ दिन बाद गांवों के लिये कांग्रेस कार्यकर्ता तय्यार करने की गरज से उन्होंने 'कांग्रेस सेवा संघ' का संगठन किया. इसका नतीजा यह हुआ कि इधर उधर बिखरे हुए परेशान कांग्रेस कार्यकर्ताओं को एक रोशनी मिली और वह फिर काम में जुट गये. घोर अन्धकार में भी श्री शचीन्द्र इसी तरह रोशनी की कोई किरन पैदा कर देते थे.

कांग्रेस के प्रचार काम के सिलसिले में शचीन्द्र ने महसूस किया कि हमको साहित्य लिखने वाले, चित्रकार, मूर्ति बनाने वाले, गायक, नर्तक और अभिनेता ( ऐक्टर ) वगैरह सभी तरह के कलाकारों को कांग्रेस के हलके में लाना चाहिये. उनका कहना था कि कांग्रेस की रहनुमाई में आजादी की जो वेदी तय्यार हो रही है उससे दूर खिसक कर कोई नहीं रह सकता. आजादी की लड़ाई की भलक हमको हिन्दुस्तान की हर एक चीज से मिलनी चाहिये, क्या मूर्तियाँ, क्या लिटरेचर, क्या हमारे डामे, सिनेमा और क्या हमारे शादी ब्याह इन सबसे इतना तो जाहिर होता रहना ही चाहिये कि हिन्दुस्तान इस वक़्त आजादी की लड़ाई में लगा हुआ है और हमारा सबसे बड़ा फ़र्ज उसमें मदद देना, उसमें हिस्सा लेना है. इस तरह शचीन्द्र के हृदय की एक एक धड़कन आठों पहर देश की आजादी के सुर ही बजाती थी.

एक दिन उन्होंने अपने यह खयालात मास्टर अनाथ गोपाल सेन के सामने रखे. उनकी सलाह से और कुछ दूसरे साहित्यकारों के सहयोग से दिसम्बर १९४४ में 'कांग्रेस साहित्य संघ' कायम करने में शचीन्द्र को सफलता मिली. इस संघ की पुकार पर देश के अनेकों लेखक और कवि भारतमाता के आँगन में इकट्ठे हो सके. श्री अतुल चन्द्र गुप्त, सजनीकान्त दास, सुबोध घोष, देश-विदेशों में मशहूर चित्रकार नन्द लाल बोस, विदेशी चित्रकार मूर हाउस, सुनीतिपाल, प्रो० इन्द्र दूगड़, सुकृति सेन और मशहूर नाचने वाले प्रहलाद दास व और न जाने कितने

छोटे बड़े कलाकार इस संघ के भंडे के नीचे आकर आज़ादी की लड़ाई में तन-मन से योग देने लगे.

शचीन्द्र नाथ की दिन रात मेहनत ने इन देश सेवी कलाकारों के इस मिलन और संगठन को एक भारी ताकत बना दिया. १९४६ के फ़रवरी के महीने में काँग्रेस साहित्य संघ की कोशिशों से राष्ट्रीय चित्रों की पहिली नुमायश हुई. काँग्रेस के सालाना जलसे पर नन्दलाल बोस के बनाए हुए सुन्दर चित्रों को कलकत्ते की जनता शायद पहिली बार देख सकी. इन चित्रों में यह दरसाया गया था कि भारत के सात लाख गाँवों की नई जिन्दगी और तरक्की ही स्वराज का असली मक़सद और उसकी सही तस्वीर है. इसके बाद तस्वीरों की और भी नुमायशों की गईं. गान्धी जी के उसूल, हिन्दुस्तान के सभी फ़िरक़ों का भाई चारा, देश के शहीदों का इतिहास और इसी तरह की दूसरी चीज़ों और मसलों पर इन नुमायशों की तस्वीरों में बड़ी खूबसूरती और बड़े पुर असर तरीक़े से राशनी डाली गई थी. १९४६ के जनवरी के महीने में श्री शचीन्द्र ने राष्ट्रीय तस्वीरों की एक बहुत बड़ी नुमायश को, जिसमें तस्वीरों के सहारं हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का पूरा इतिहास दिखाया गया था.

चित्रकारी की ही तरह ड्रामों और फ़िल्मों व गीतों के ज़रिये देशभक्ती का प्रचार करने की तरफ़ भी शचीन्द्र ने अपना ध्यान लगाया. इससे बंगाल में बहुत से ड्रामाटिक क्लब खुले. कितने ही पुराने राष्ट्रीय गीत फिर जनता की ज़बान पर ताज़ा हो उठे और बंगाल के सुबह शाम उनकी मीठी लय से गूँजने लगे. ऐसे बहुत से गीतों की राग रागनियाँ भी उन्होंने तय्यार कराईं और इन गीतों के संग्रह भी शचीन्द्र की कोशिशों से किताबी शक्ल में निकले, जिनको जनता ने बहेद पसन्द किया. इन कामों में शचीन्द्र को इतनी ज़्यादा लगन थी कि वह करीब करीब हर एक इतवार को किसी न किसी गाँव में गीतों या चर्खें का दंगल रख देते थे. यही दंगल एक अच्छी सभा का काम भी दे जाता था, जिसमें आये हुए

लोग श्री शचीन्द्र के देशभक्ती में डूबे हुए भाषणों को सुन कर मुग्ध हो जाते थे और अक्सर लोग वहीं सभा में उनके सामने यह वादा करते थे कि आगे से वह भी देश के काम में कुछ न कुछ वक्त ज़रूर देंगे. इस तरह शचीन्द्र ने सैकड़ों नये लेकिन सच्चे कार्यकर्ता गाँवों से निकाले थे.

इसी बीच और भी कितनी ही नई नई संस्थाएँ शचीन्द्र ने कायम कीं और कितनी ही संस्थाओं से उन्होंने अपना सम्बन्ध कायम कर लिया. बालीगंज राष्ट्रीय सेवा संघ, बारकोल डाँगा, गोबर-डाँगा, उत्तर पाड़ा वगैरह में जितने भी नौजवानों के समाज थे, उन सब में उनकी बैठ पैठ थी और वहाँ के लोग इनको अपना भला चाहने वाला एक सच्चा देशभक्त समझते थे. इधर उधर बिखरे हुए कार्यकर्ताओं की तालीम के लिये श्री शचीन्द्र ने मास्टर अनाथ गोपाल सेन की देख रेख में एक स्कूल भी चलाया और इसका ताल्लुक बहुत से संगठनों के ज़रिये चलाई जाने वाली गाँवों की रात पाठशालाओं से कायम किया.

१६ अगस्त १९४६ को कलकत्ते में जो भयानक बलवा शुरू हो गया था, ऐसा मालूम होता है कि श्री शचीन्द्र को उसका आभास पहिले ही हो गया था. इसीलिये इस बलवे से कुछ ही दिन पहिले से उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रचार में ही अपनी तमाम ताकत लगानी शुरू कर दी थी. इसके लिये वह दोनों फ़िरकों की मिली जुली सभायें करते थे और दोनों फ़िरकों के नेताओं के दस्तखत कराके एकता की अपीलें निकलवाते थे. लेकिन बलवा न रुक सका, क्योंकि इसकी जड़ें बहुत ज्यादा गहरी पड़ चुकी थीं और फूट व जोश से भरी हुई ओछी बातें जनता के दिमाग पर जल्दी असर कर जाती हैं. लेकिन शचीन्द्र ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी.

शचीन्द्र ने महसूस किया कि कलकत्ते में होने वाले अगस्त के बलवे का दूसरा दौर पूरबी बंगाल में चलाया जावेगा, इस लिये कुछ दोस्तों को लेकर वह मैमनसिंह, चटगाँव, कोमिल्ला, नोआखाली वगैरह गये. '१६ अगस्त से पहिले और उसके बाद' नाम से उन्होंने एक किताब छपवाई थी, जिसके साथ काँग्रेस साहित्य संघ की किताबें और

एकता का प्रचार करने वाली तस्वीरों के साथ वह इन गाँवों में दरवाजे दरवाजे पहुँच कर एकता का अलख जगाते फिरे. घर में आराम कुर्सी पर लेट कर नेताओं को गालियाँ देने के शौकीन भाई शायद कहेंगे, “कैसा पागलपन था ? इससे बलवा रोक लिया क्या ?” वह नहीं जानते कि यह एक ऐसी ही दलील है. जैसे कोई यह कहे कि धरम की किताबें और रिषी मुनी व पंडित लोग फ़ज़ूल ही नेक चलनी का और सदाचार से रहने का उपदेश देते हैं, इससे दुनिया का पाप रुक गया क्या ? यह साफ़ है कि ऐसे लोगों की इस तरह की दलीलों का जवाब कुछ भी नहीं हो सकता.

१९४६ के नवम्बर दिसम्बर में जब नोआखाली में जानबूझ कर आग भड़काई गई, तब शचीन्द्र त्रिपुरा और नोआखाली की सीमा पर बसे हुए हेमचर नाम के एक स्थान में अछूत भाइयों की सेवा में लगे हुए थे. इस इलाक़े के चारों तरफ़ भयानक बलवों की आग जल रही थी और किसी भी हिन्दू का वहाँ रहना ख़तरे से ख़ाली नहीं था, लेकिन श्री शचीन्द्र ने अपनी जगह में हटने से इन्कार कर दिया. वह उस जमाने में भी मुसलमानों के गाँवों में बेधड़क चले जाते थे और उनको अपने हिन्दू पड़ोसियों की हिक़ाज़त के लिये समझाते बुझाते थे. उस इलाक़े के तमाम मुसलमान उनकी बड़ा इज़्ज़त करते थे और इसी लिये श्री शचीन्द्र को किसी हद तक अपने काम में कामयाबी भी मिली. शचीन्द्र के काम में सबसे बड़ा रोड़ा अटकाने वाले वह हिन्दू लीडर थे, जो हिन्दुस्तान के मुख़तलिफ़ हिस्सों में नोआखाली का बदला वहाँ के मुसलमानों से लेने के लिये उकसाते फिरते थे, लेकिन उस इलाक़े में धिरी हुई हिन्दू जनता की खोज ख़बर लेने के लिये वह उधर की ओर भाँकते भी नहीं थे. ऐसे लीडरों की तक्रारों उस इलाक़े के गुन्डे मुसलमान लीडर ख़ूब नमक मिर्च लगाकर वहाँ के मुसलमानों को सुनाते थे, जिससे शचीन्द्र जो कुछ उनको समझाते थे, उसका असर बहुत कम हो जाता था. इसके बाद शचीन्द्र फिर नये सिरे से उनको

समझाते थे और फूट परस्त मुसलमान लीडर फिर उनकी दलीलों के खिलाफ वहाँ की मुसलमान जनता को भड़काते थे. बस इसी तरह यह कशमकश काफ़ी दिन तक चलती रही, जिसके बीच जमे रहना शचीन्द्र जैसे साहसी आदमी का ही काम था. लेकिन शचीन्द्र ने मौत से डरना तो सीखा ही नहीं था.

इसी जमाने में शचीन्द्र की जान पहिचान बापू से हुई और बापू ने उनको हिम्मत देते हुए कहा था—

“तुमको काम करते रहना होगा, हार मान लेने से कैसे बनेगा.”

१९४७ के मार्च में शचीन्द्र कलकत्ते लौटे, तो इस देशभक्त का दिल आपस की खूँ रेज़ी से दाग दाग था. जो बातें कभी खयाल में भी नहीं आ सकती थीं, वह उनको आँखों से देखनी पड़ी थीं. कोई हलके दिमाग का आदमी होता, तो इस हालत में हिन्दू फिरका परस्ती के रंग में रंग जाता. इससे जनता से इज़्जत भी मिलती, पैसे भी मिलते और हज़ारों आदमी उनको कन्धों पर घुमाये फिरते. लेकिन जिस आदमी ने हिन्दू धरम के शास्त्रों का इतनी गहराई से मनन किया हो और उनके ही मुताबिक अपने को ढालने की कोशिश की हो, वह ऐसी गलती कैसे कर सकता था ? वह जानते थे कि जो कुछ हुआ है, उसमें दोष न हिन्दू का है, न मुसलमान का है, बल्कि फिरका परस्ती का है. बस वह फिरका परस्ती के खिलाफ ऐसे नौजवानों का संगठन करने में जुट गये, जो कठिन से कठिन समय में भी अपना जगह पर अडिग रह सकें. उस वक़्त ऐसा संगठन कर लेना मामूली बात नहीं थी, क्योंकि लोग एक दूसरे के खिलाफ गुस्से में भरे हुए थे एकता का नाम मुनते ही जनता गालियाँ देने लगती थी और जो लोग मारकाट व इसी तरह की दूसरी चीज़ों का “अपनी हिफ़ाजत” के नाम पर प्रचार करते फिरते थे, समाज की नेतागिरी उन लोगों के हाथों में थी. लेकिन शचीन्द्र हिम्मत हारने वाले आदमी नहीं थे. सभाओं में और आपसी बातचीत में वह अपने

उसूल का निडर होकर प्रचार करते थे. उसी ज़माने में उन्होंने बंगाल टीचर्स कान्फ़ेन्स में लेक्चर देते हुए कहा था—

“आप लोग आगे आइये. उन लोगों को मदद कीजिये, जो देश को सचमुच ऊँचा उठाना चाहते हैं, और नौजवानों व बालकों के दिमाग़ में फ़िरका परस्ती का जो ज़हर भर दिया गया है, उसे धोने और साफ़ करने में जुट जाइये.”

शचीन्द्र की यह अपील बेकार नहीं गई और डाक्टर अमिय चक्रवर्ती व श्रीमती सुजाताराय जैसे विद्वान लोगों ने उनको सहायता देना मंजूर किया और उनको पूरी तरह मदद दी.

शचीन्द्र ने हेमचर मे जो खून खराबी देखी थी, वह दिन रात उनको बेचैन किये रहती थी. वह महसूस करते थे कि यह नफ़रत और दुरमनी व छुरेवाजी हमको कायर और बेशर्म बनाए दे रही है. बदला लेने के नाम पर हम जानवर बने जा रहे हैं और इससे पूरे देश का विनाश होता चला जायगा. अपनी इन भावनाओं का प्रचार करने के लिये श्री शचीन्द्र ने कई नाटक लिखने वालों से प्रार्थना की कि वह इस मसले पर एक पुरअसर नाटक लिख दें, लेकिन यह लोग टालमटूल करते रहे. आखिर शचीन्द्र ने खुद ही एक नाटक लिख डाला. उन्होंने कहा— “यह ठीक है कि अगर कुछ देर इन्तज़ार किया जा सकता, तो उन कलाकारों का लिखा हुआ नाटक कहीं ज़्यादा पुरअसर और जानदार होता. लेकिन ज़रूरत तो आज है. इन्तज़ार का वक़्त अब हमारे पास कहाँ है ? जो काम कोई न करे, वह काम करने के लिये मैं तय्यार हूँ !” इस तरह शचीन्द्र को पल भर को भी चैन नहीं था. जब उनके साथी उनके तेज़ कदमों का साथ नहीं दे पाते थे, तब भी वह आगे बढ़ते ही जाते थे. इन्सानियत की पुकार पर वह किसी का भी इन्तज़ार करने के लिये खड़े नहीं रह सकते थे.

जब १५ अगस्त १९४७ की तारीख़ नज़दीक आने लगी, तो शचीन्द्र सोचने लगे कि हमारी आजादी का रूप क्या होगा ? आजादी की देवी

हमारी जनता से क्या माँगेगी ? वह अपनी इन भावनाओं को जनता में फैलाने के लिये पोस्टर तय्यार कराने लगे। इसी तरह के उन्होंने गीत भी लिखवाये। एक गीत की कुछ कड़ियाँ हैं—

“घिड़िल बन्धन, टुटिल श्रंखल,  
नूतन प्रभाते के तोरा जाबिबल.  
एखन बहुप्राण चाइजे बलिदान,  
राखिते मार मान स्वागत बीर दल.”

यानी—“इस नये प्रभात में कौन चलते हो, बोलो ? माँ की इज्जत को बचाने के लिये अनगिनत कुरबानियों की जरूरत है। वीरो ! तुम्हारा स्वागत है.”

जून १९४७ में शचीन्द्र ने ‘संगठन’ नाम से एक अखबार निकाला, जिसमें अपना पहिला सम्पादकीय लेख लिखते हुए उन्होंने लिखा था—  
“आज एक नये क्रिस्म की पुकार हुई है। जुग जुग की साधना से खुश होकर राष्ट्र देवता आशीर्वाद दे रहा है। उस आशीर्वाद को लेने की हिम्मत किसमें है ? इस आशीर्वाद लेने और उसका पालन करने की हिम्मत देश में कौन करेगा ? संगठन करने वालों के नाम से आज तक जो अपना परिचय देते रहे हैं, आज उनके इम्तहान का वक्त है। आज उनकी आत्मा, धीरज और अपने उसूलों के लिये वफादारी का इम्तहान होने वाला है !”

उन्होंने इस तरह का एक संगठन बनाया। १९-२० जुलाई को कार्यकर्ताओं की एक सभा हुई और एक संगठन बनाने की स्कीम बनी। इसके कनवीनर शचीन्द्र बनाए गये।

३१ अगस्त १९४७ को कलकत्ते के देश बन्धु पार्क में होने वाली एक सभा में लेक्चर देकर अपने दोस्तों के साथ शचीन्द्र लौट रहे थे। यकायक उन्होंने कहा—“देखो, अहिंसा पर मेरा पूरा यकीन है। लेक्चर

भी देता हूँ, लेकिन जब तक इस पर अमल करते हुए जनता नहीं देखेगी, तब तक सिर्फ़ लेक्चरों पर वह यत्नीन नहीं करेगी. हमें और ऊँचा उठना होगा, और भी एक इम्तहान देना होगा.”

इतवार को उन्होंने यह कामना की और सोमवार को वह पूरी भी हो गई. १ सितम्बर सन् १९४७ को कलकत्ते में अकस्मात् बलवा हो गया. 'छात्र संसद्' के किसी मेम्बर ने 'फ्रील्डमैन' के आफिस में इसकी इत्तिला शचीन्द्र नाथ को दी. मुनते ही शचीन्द्र अपने तीन साथियों को लेकर बाहर निकल पड़े. रास्ते में कुछ मुसलमान भी, जो उनके मिशन से हमदर्दी रखते थे, उनके साथ हो लिये. अब यह दल नारे लगाता हुआ आगे बढ़ा. 'ना खुदा मसजिद' के पास बलवा होने की खबर मुनकर शचीन्द्र उधर ही चले. कैनिगस्ट्रीट और चितपुर रोड पर मुसलमानों के एक दल ने उनको आगे बढ़ने से जबरदस्ती रोकना चाहा और शचीन्द्र व उनके दो साथियों को छुरों से घायल कर दिया. शचीन्द्र के साथी मुसलमानों ने शचीन्द्र की हिफाजत के लिये हृदय दर्जे की कोशिश की, लेकिन वह बेकार ही गई. शचीन्द्र नाथ के पेट में छुरे का घाव था. आखिर उनके साथी मुसलमान किसी तरह खीच खाँच कर उनको गुण्डों की भीड़ से बाहर निकाल सके और बड़ी हिम्मत के साथ उनको एक लारी में मेडिकल कालेज अस्पताल में ले जा सके. शचीन्द्र को जिस तरह वह यहाँ तक लाये, यह सिर्फ़ उनकी ही हिम्मत थी.

अस्पताल में जिन्दगी की आखिरी घड़ियों में शचीन्द्र ने आखिरी मिलन के लिये आने वाले दोस्तों से कहा था—

आज मुझे बहुत खुशी है. इतना खुशी मुझे कभी नहीं मिली.

“जिस बड़े काम में हम घायल हुए हैं, उसको दारा न लगाने देना दोस्तो! बंगाल के नौजवानों और विद्यार्थियों से मेरी यह प्रार्थना कह देना कि शचीन्द्र तुम्हारे हाथों में माँ की इज्जत बचाने का काम छोड़ कर गया है,”

३ सितम्बर बुधवार को सुबह के वक्त्र इस बहादुर देश भक्त और माँ के इस अनोखे लाल ने आखिरी हिचकी ली. बापू उस वक्त्र अनशन किये हुए थे.

फिर भी उन्होंने शचीन्द्र की मौत की खबर पाते ही उनकी पत्नी को हिन्दुस्तानी में एक खत लिखा, जिसमें बापू ने लिखा था—

“सचिन मित्र मर कर अमर हो गये हं. ऐसी मौत पर दुख मनाने के बजाय आनन्द मनाना चाहिये. आप उनके कदमों पर चल कर उनके प्रति रहने वाले अपने प्यार को जाहिर कर सकती हैं.”

कुछ दिनों बाद बापू भी उसी रास्ते चल दिये जिस रास्ते उनका यह प्यारा शिष्य गया था.

आज भी मैं कलकत्ते के ऐसे बहुत से ‘शूरवीरों’ को जानता हूँ, जिन्होंने बलवों के दिनों में दूसरे फिरके के किसी रास्ता चलते हुए बेवस मुसाफिर या घिरे हुए पड़ौसी पर हाथ साफ़ किया था. ऐसे लोग बड़ी बेशर्मी से अपने साथियों में बैठकर आज भी अपनी इस बहादुरी का बखान करते हैं, लेकिन जिनके आखें हैं और दिमाग है, वह समझते हैं कि असली बहादुरी उन बेवसों की हत्या में थी या शचीन्द्र की तरह लोगों को बचाने के लिये जान बूझ कर आग में कूद पड़ने में. ऐसे लोग भी हैं, जो शचीन्द्र को एकता के काम में लगा देखकर उसे ‘गद्दार’ कहते थे और उसे हिन्दू धर्म का दुश्मन बताते थे. लेकिन मैं जानता हूँ कि शचीन्द्र ने अपने प्रान देकर भी हिन्दू धर्म को बचा लिया. ‘बदला लेने के नाम पर’ बेकसूर लोगों की हत्या करने वाले कायर जब अपने को ‘हिन्दू’ कहते हैं तो मुझे अपने ‘हिन्दू’ होने पर शर्म आने लगती है, लेकिन जब तक शचीन्द्र जैसे नौजवान हिन्दू जाति में हैं तब तक हिन्दू धर्म पर मेरी श्रद्धा अचल है, आडिग है.

कभी कभी रात के सन्नाटों में मुझे शचीन्द्र का वह आखिरी सन्देश सुनाई देता है, जो उसने जिन्दगी की आखिरी घड़ियों में कलकत्ते के

विद्यार्थियों और नौजवानों को मुखातिब करके तमाम देश को या हर एक देश भक्त को दिया था और मैं सोचता हूँ कि शचीन्द्र की आत्मा आज भी हमारे जवाब के इन्तजार में है.

[ यह लेख श्री शचीन्द्र नाथ मित्र के एक नजदीकी दोस्त श्री निरंजन सेन गुप्त के एक लेख के सहारे लिखा गया है, जिसका हिन्दी तर्जुमा श्रीयुत भगवान जी मिश्र ने करने की कृपा की थी—सम्पादक ]

# शचीन्द्र नाथ मित्र

( लेखक श्री अतुलचन्द्र गुप्त )

शचीन्द्र नाथ का नाम बहुत दिनों से सुना था. तालिब इल्मी के ज़माने से ही उनकी देशसेवा का थोड़ा बहुत हाल भी जानता था. कांग्रेस साहित्य संघ के सिलसिले में उनसे जान पहिचान भी हुई. वह इस मंगठन के कायम करने वाले और सेक्रेट्री थे. वह ऐसे मेहनती थे जो थकान का नाम भी नहीं लेते. उनसे आमने सामने की पहिचान होने पर मैं ताज्जुब से भर गया. मेरा खयाल था कि शुरू से मुल्क के लिये काम करने वाले और खास कर नौजवान विद्यार्थियों के हेल मेल में रहने वाले इस आदमी में कम से कम नाम पाने की खाहिश तो होगी ही. पर यह चीज़ तो उनमें ढूँढ़े भी न मिली. देश के ऊपर कुरबान होनेवाले इस आदमी की ज़िन्दगी देश की आम पब्लिक की ज़िन्दगी से जुदा किसम की होगी, मेरा यह अन्दाज़ भी ग़लत साबित हुआ. उनके लिये ऐसा करना नामुमकिन था. ज़िन्दगी की यह सादगी ही उनकी असली खूबी थी. तभी तो हर रोज़ बिना शानशौकत के वह मुल्क का काम करते रहते थे. लोग उनकी सादगी पर इस क़दर फ़िदा थे कि अनजान आदमी भी उनके हुकम को टालना पसन्द नहीं करता था. उनकी खुशमिज़ाजी, नरमी और मिठास से उनके जानने वाले बेहद खुश थे. उनकी कामयाबी की भी शायद यही वज़ह थी. देश के काम को वह अपना ही काम समझते थे.

बापूजी के विचारों ने उन पर गहरा असर डाला था. हिन्दुस्तान को अंग्रेजों की 'गुलामी से बचाने के लिये गांधीवाद को ही वह सबसे अच्छा तरीका मानते थे. महात्मा गांधी ने आज़ाद भारत की जो तस्वीर खींची थी वह उनको पूरे तौर पर पसन्द थी. गांधी जी के उसूलों के सांचे में उनकी आदतें बंध गई थीं. इसके साथ ही वह रवीन्द्र नाथ के विचारों के भी क्रायल थे. उनकी देशसेवा सिर्फ़ सियासी ही नहीं थी बल्कि चित्रकला, साहित्य और संगीत की तरक्की भी उनके ज़रिये हुई. तरह तरह के कामों को निभा लेने की कैसी खूबी उनमें थी, यह बताना मुश्किल है. १५ अगस्त १९४७ को भारत की एक निराली तस्वीर मुल्क के आगे पेश करने के खयाल से ही उन्होंने 'संगठन पत्रिका' का निकालना शुरू किया था. यह हमारी बदनसीबी है कि ज़रूरत के मौक़े पर यह ब्रह्मादुर सिपाही हमसे बिलुड़ गया. मरने का जो नमूना उन्होंने पेश किया है, मालूम नहीं उससे देश का भला होगा या नहीं. इतिहास का चढ़ाव उतार जान सकना मुश्किल है. लेकिन शचीन्द्र नाथ मित्र का बड़प्पन, उनकी काबलियत और कीमत में इसमें कुछ फ़र्क़ नहीं आ सकता. उनकी ज़िन्दगी अपनी रोशनी से रौशन और अपने कामों से जगमग थी.

फ़िरका परस्ती को वह बहुत नापसन्द करते थे और उसे मिटाने के लिये ही वह मर मिटे. उनकी ज़िन्दगी में जो सादगी थी वह उनकी मौत में भी क्रायम रही. किसी की कुछ शिकायत नहीं. सिर्फ़ उनके गुज़रने पर एक ही बात बार बार खटकती है कि ऐसा दूसरा आदमी तो कोई और दिखाई नहीं देता !

## श्री स्मृतीश बनर्जी

[ हिज एक्सलैन्सी श्री कैलाशनाथ काटजू गवर्नर पच्छिमी बंगाल का वह भापन जो उन्होंने ३१ नवम्बर १९४८ के बाली ( कलकत्ता ) में शहीद स्मृतीश की मूर्ती पर से पर्दा उठाते हुए दिया था. ]

आज हम शान्ति और अमन के उस सिपाही की याद ताजा करने के लिये इकट्ठे हुए हैं, जिसने इस कलकत्ता जैसे बड़े शहर में बसने वाली अलग अलग जमातों में प्रेम, शान्ति और आपस में रवादारी बनाये रखने की लगन में अपनी जान तक कुरबान कर दी. उन लोगों को, जो अपना होश हवास खो बैठे थे, स्मृतीश बनर्जी बिना किसी स्वार्थ या इनाम इकराम की खाहिश के, इन्सानियत का पाठ पढ़ाने गया था. पिछले बीस बरस से बल्कि बचपन से ही उसने शान्ति कायम करने के लिये अपने आप को देश की सेवा में अर्पण कर रखा था. इसके लिये वह मैदान में उतरा. उसने अन थक कोशिश की. उसकी मौत बिलकुल मेरे दोस्त गणेश शंकर विद्यार्थी जैसी थी, जो सन् १९३१ में कानपुर के फ़िरकावाराना फ़साद में शहीद हुए थे. वह एक शानदार मौत थी. बंगाल के इतिहास में स्मृतीश बनर्जी का नाम अमर रहेगा और जैसा कि गांधी जी ने अपने संदेसे में कहा था “इस तरह की शानदार मौत के लिये किसी को रंज नहीं करना चाहिये.” देश को जरूरत है और गांधी जी ने कहा था “मुझे जरूरत है कि हज़ारों स्मृतीश बनर्जी जैसे काम करने वाले आगे बढ़ें” आज हम उस महान् पुरुष की यादगार अपनी याद के लिये खड़ी कर रहे हैं ताकि हम उसे भूल न जायँ और यह यादगार

हमारे सामने रह कर हमें उस चीज़ की याद दिलाती रहे जिस के लिये वह अपनी जान पर खेल गया. हमें उस काम की अच्छाई और नेकी को समझ कर उसे आगे बढ़ाना चाहिये. एक तरह से तो यह यादगार हमारा सिर नहीं उठने देगी. अगर कोई विदेशी कलकत्ता आये और स्मृतीश बनर्जी की यादगार को देख कर पूछ बैठे कि यह चीज़ कौन से कारनामे को बताने के लिये है, तो मुझे यकीन है कि मैं और आप उस समय घबरा कर उदास दीखने लगेंगे और यह बताते हुए हमारा सिर शरम से झुक जायगा कि जब कलकत्ता के निवासी मज़हबी नफ़रत के कारण दीवाने हो गये थे, एक दूसरे से लड़ते भगड़ते थे बल्कि एक दूसरे की जान तक ले रहे थे, उस समय यह शराफ़त का पुतला उस भाई-भाई के फ़साद की लहर से टक्कर लेने को कलकत्ते की गलियों में निकला था. यह मज़हबी भगड़ें हमारा शान में चार चाद नहीं लगाते बल्कि इन्साना समाज का नज़रा म हम और भा गिरा देते हैं. यही बातें हमारे लिये डूब मरने का हैं. हमारे उन महात्माओं और पैग़म्बरों का शिक्षा, हमारा कलचर, हमारे बड़े बड़े मज़हब, हमारा समाजी जिन्दगी और हमारा संस्कृत का यह बड़ा लगाता है और हमें कौड़ों के लायक नहीं छोड़ता. कलकत्ते को इसका जवाब देना होगा. सन् १९४६ में यहां मज़हबी पागलपन के शोलें भड़के थे, नफ़रत फूट पड़ी थी और उसका असर दूर दूर तक फला और उसने सारे मुल्क में बे अन्त दुख, मुसीबत और तबाही का रूप धारण किया. एक साल बाद हमारे सबसे बड़े नेता महात्मा गांधी के ज़ारिये भगवान ने हमें उस आग पर क़ाबू पाने में मदद दी, और कलकत्ता न वह शानदार मिसाल कायम को कि जिसपर हर हिन्दुस्तानी और हर विदेशी उस मज़हबी भाई चारों को देख रश्क खाता था. कुछ ही दिन बाद फिर इन्सानी दिमाग पर भूत सवार हुआ. तब स्मृतीश बनर्जी जैसे मनुष्य आगे बढ़े और सर धड़ की बाज़ी लगा, जान को दाँव पर रख, कलकत्ते के माथे पर कलंक के टीके को लगने से रोकने में काम आये. गांधी जी ने फिर अपनी जिन्दगी को खतरे में

डाल कलकत्ते में सुख और शान्ति का बोल वाला किया। पिछले बारह मास के और अपने पूरे तजरबे की बिना पर मैं दावे से कह सकता हूँ कि आज कलकत्ते के अलग अलग किरकों में पड़ोसियों जैसा मेल मिलाप और प्यार है। पाँच महीने हुए जब यहाँ आने पर मैं कलकत्ते के हर हिस्से के आदमियों से मिला तो तमाम शहरियों में भाई चारा और प्रेम की गाढ़ी छनती देख मेरा दिल खुशी से भूम उठा था। लेकिन यह जादू जिसे गांधी जी और स्मृतीश बनर्जी जैसे जादूगरों ने फूँका था एक बार फिर बेकार गया। मुहर्रम के आखिरी दिन के भगड़े की खबर ने बीमारी के बिस्तरे पर भी मुझे परेशानी और क्लिक में डाल दिया। पर शुकर है कि दोनों तरफ के लोगों के जल्दी ही होश संभाल लेने पर और कानून और शांति कायम करने के लिये गवर्नमेंट और उसके अफसरों ने समझदारी के जो कदम जल्दी ही उठाए उनकी बदौलत फ़साद का गला शुरू में ही घोंट दिया गया। इतने बड़े शहर में अमन जल्दी ही कायम हो गया। लेकिन यह सब कुछ तब तक न हो सका जब तक कि कुछ घर न उजड़ चुके और कुछ बच्चे यर्ताम न बन गए और यह उस समय तक होता रहेगा जब तक कि गवर्नमेंट का फ़र्ज न हो जाए कि वह अमन और इंसाफ़ को बनाए रखे। ज़रूरत पड़ने पर पर सरकार ताकत ही के बल पर यह कर सकती है। लोगों की हिंसा, लड़ाई, भगड़े, फ़साद और ईंट पत्थरों का जवाब पुलिस को डण्डों, आँसू गैस और चारो नाचार गोलियों ही से देना पड़ता है। सरकार को अपना फ़र्ज तो निभाना ही होगा। लेकिन फिर भी अमन कायम रखने की ज़िम्मेदारी का बोझ लोगों ही के कंधों पर है। सरकार तो केवल ठीक तरह के हिफ़ाज़ती इंतज़ाम करके चोरी चमारी, डाकाज़नी या लोगों के माल व जान की रक्षा, पुलिस के तरीकों से जुर्मों की रोक थाम करके कर सकती है। पर इन मज़हबी भगड़ों के लिये लोगों की अपनी इन्सानियत की आवाज़ को ऊपर उठाना होगा। हम उस राज की स्थापना कर रहे हैं जहाँ मज़हबों की तमीज़, रंग रूप

और नसल में फ़रक़ कुछ मानी नहीं रखते, क़ानून की नज़र में हर शहरी का जान व माल बिना किसी भेद भाव के प्यारा समझा जायगा. हर शहरी को अपना जीवन बिताने और अपने ईश्वर अल्ला की पूजा बंदगी करने की आज़ादी और बराबर के अधिकार होंगे. यही हमारे जैसे आज़ाद और रवादार देश में होना चाहिये. हमारे महात्माओं और शास्त्रकारों का भी यही कहना है. एक सच्चे हिन्दू के लिए यह सबसे बढ़कर फ़ख़र की बात है कि उस का मज़हब दूसरे सब मज़हबों की इज़्ज़त करता है और उनका आदर करना सिखाता है. एक हिन्दू के लिए पूजा बंदगी का हर तरीक़ा उसे भगवान के नज़दीक ले जाता है. सोच विचार और पूजा बंदगी की आज़ादी ही तो हमारे जीवन की रुह है. किसी भी इन्सानी समाज या मज़हब के नज़दीक किसी आदमी को खुदा के नाम पर अपाहज कर देने या मार डालने से बढ़ कर और कोई पाप नहीं है. मुझे भरोसा है कि कलकत्ता शहर के अमन और शांति के शौदाई इस मामले में अपने फ़र्ज को पहिचानेंगे. वह हिन्दुस्तान के सबसे बड़े शहर के वासी हैं. जो कुछ यहाँ होगा उसी का रंग कहीं और जा खिलेगा और इन दिनों जब कि वह हवा जिसमें हम साँस लेते हैं, इन शकों और बेएत-घारियों के कारण ज़हरीली हो चुकी है, यह बदले लेने के सपने मँहगे पढ़ेंगे. इसलिए हमारी बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं. मेरे इतना कह देने से कुछ फ़रक़ नहीं पड़ता कि सरकार थोड़ी या बहुत गिनती वाली जातों के बुनियादी शहरी हक़ों में फ़र्क़ करती है या नहीं. आज क़ानून को क़ानून की इज़्ज़त करने वाले हर शहरी की हिफ़ाज़त करनी होगी. किसी भी मज़हब का कोई भी आदमी बिना किसी दबाव या दबदबे के अपने विचारों को सबके सामने रख सकता है. क़ानून को भंग करने वाला किसी भी मज़हब का क्यों न हो, भले ही ऊँचे दरजे का हो, उसे मुनासिब सज़ा मिलेगी ही. एक आदमी के बुरे कामों की सज़ा सारी जमात ही क्यों भुगते और न कोई कभी यह वहम या गुमान करे कि कुछ आदमियों की क़ाली करतूतों का बदला बहुतों से लिया जायगा. बल्कि जैसा मैं कह

चुका हूँ, सरकार तो हिंसा का असर कुचलने को हमेशा तय्यार है लेकिन इस बात की ज़िम्मेदारी का बोझ तमाम बिरादरी पर है. हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या पारसी कलकत्ता में एक बड़े घराने की तरह आबाद हैं और उन्हें एक खानदान के आदमियों की तरह रहना चाहिये. किसी एक हिन्दू या मुसलमान के कई सौ मील की दूरी पर बैठकर किसी गलती के कर देने का नज़ला कहीं और दूर मासूम और अमन पसंद लोगों पर गिरे, भला यह कहाँ का इन्साफ़ हुआ ? यह तो जहालत, ना समझी और जानवर पना है. यही सच भी है. हम इस बात को भूल जाते हैं और इस भूल की क़ीमत हमें दुख, मुसीबत, खून और आँसूओं से चुकानी पड़ती है. आओ आज हम इस बात को हमेशा के लिए गिरह में बाँध लें. इतने बड़े हिन्दुस्तान की आबादी अलग अलग धर्मों से बनी है और सारी जनता एक होकर एक बड़े राज के लिए मिलकर सेवा करने में जुटी हुई है. और जब तक किसी शहरी में देश की सच्ची सेवा करने की लगन है उसके साथ भाई चारे का बरताव होना ही चाहिये. बाकी सरकार पर छोड़िये, यह उसका फ़र्ज़ है कि अगर कहीं कोई ज़ुल्म हो जाता है या कहीं हमारे राज के बाहर कोई घटना हो जाती है तो वहाँ की हालत ठीक ठाक करने के लिए मुनासिब जतन करे. लेकिन अपने राज के अंदर हमें एक दूसरे मे दोस्त, साथी और एक बड़े मुल्क का अपना भाई बन्द समझ कर पेश आना चाहिये. मुझे मालूम है मैंने कोई नई बात नहीं कही लेकिन कई दफ़ा इन छोटी-छोटी बातों को भुला देने से ही बहुत भारी नुक़सान पल्ले पड़ जाता है. यह ग़लतियाँ हमें हर क़ीमत पर त्याग ही देनी होंगी. मैं आशा करता हूँ और ईश्वर अल्ला से प्रार्थना करता हूँ कि स्मृतीश बनर्जी की यादगार इस बड़े शहर में हमेशा अमर रहे और हममें से हर एक को एक दूसरे के साथ भाई चारे के सच्चे रास्ते पर ला खड़ा करे. कलकत्ते के कूचे-कूचे और घर घर में शांति और प्रेम का हमेशा राज रहे.

# श्री स्मृतीश बनर्जी

[ लेखक—एक साथी ]

आज़ादी मिलने के बाद जब कलकत्ते में हमारे देश की आज़ादी के दुश्मनों ने फिरक्कापरस्ती की आड़ लेकर इन्सानियत और आज़ादी को खतरों में डाल दिया था और करीब करीब कामयाब से हो चुके थे, तब जिन थोड़े से देशभक्तों ने अपनी जान देकर भी इस साज़िश को बेकार कर दिया था, उनमें से एक थे श्री स्मृतीश बनर्जी, जो इसी तरह के एक दूसरे शहीद श्री शचीन्द्र मित्र के प्यारे साथी थे.

श्री स्मृतीश बनर्जी लोटी सी उम्र से ही देशभक्तों के दल में शरीक हो गये थे. सन् १९२७ में जब वह आठवें या नवें दर्जे में पढ़ते थे, बंगाल के क्रान्तिकारी दल के एक अच्छे कार्यकर्ता थे. बाद में सन् १९३० में एफ० ए० पास करते ही वह गांधीजी के 'नमक क़ानून तोड़ो' आन्दोलन में शरीक हो गये और उत्तरपाड़ा ( कलकत्ता ) कांग्रेस कमेटी के एक स्वयं सेवक की हैसियत से इस आन्दोलन में काम करते हुए उन्होंने एक बरस की कैद काटी थी.

१९३१ में जेल से छूटने पर वह 'गणनायक' नाम के अखबार के एडिटर हो गये, साथ ही गांधीजी के हरिजन आन्दोलन में भी उन्होंने अच्छी दिलचस्पी ली. हुगली में किसान आन्दोलन की नींव भी आपने ही डाली थी. सन् १९३४ में आप डाक्टर भूपेन्द्र नाथ दत्त के साथ,

‘भेमन सिंह जन साहित्य संघ’ में शामिल हुए और वहां से लौटते ही फिर गिरफ्तार कर लिये गये.

सन् १९३५ में जेल से छूटते ही फिर उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया. बंगाल सूबे के विद्यार्थियों की सबसे बड़ी सभा ‘बंगीय छात्र परिषद’ के आप एक खास कार्यकर्ता थे और इसी ज़माने में आपने किसान मजदूरों का संगठन भी काफ़ी मज़बूत बना लिया था. आप आल-इंडिया किसान सभा की वर्किंग कमेटी के मेम्बर भी थे और बंगाल सूबे की कम्यूनिस्ट पार्टी के हल्कों में भी आपका काफ़ी असर था.

‘त्रिपुरी कांग्रेस’ से लौटकर श्री स्मृतीश ने जनता का एक नये सिरे से संगठन करना शुरू किया. इस पर १९४० में आप फिर गिरफ्तार कर लिये गये. सन् १९४२ तक आप हिजली जेल में बन्द रहे. वहाँ से छूटने पर आपने कम्यूनिस्ट पार्टी से इस्तीफ़ा दे दिया और सिर्फ़ कांग्रेस के भंडे के नीचे ही काम करने का फ़ैसला किया. इसी ज़माने में आप बंगाल सूबा कांग्रेस कमेटी की वर्किंग कमेटी के मेम्बर चुने गये.

१९४५ में आपने आज़ादी की लड़ाई का एक इतिहास तस्वीरों में तय्यार कराया. कांग्रेस की इजाज़त पर यह तस्वीरें बम्बई और इन्दौर में दिखाई गईं और वहाँ बेहद पसन्द की गईं. इन तस्वीरों में सिराजुद्दौला और अंग्रेजों की लड़ाई से लेकर १९४२ तक की तहरीकों को दिखाया गया था और यह तस्वीरें बंगाल के नामी चित्रकारों ने तय्यार की थीं.

१ सितम्बर १९४७ को श्री शचीन्द्र मित्र और श्री स्मृतीश ने इन तस्वीरों की एक नुमायश कलकत्ता यूनीवर्सिटी के सीनेट हाल में करने का फ़ैसला किया था, लेकिन यकायक बलवा भड़क उठने की वजह से आपने यह प्रोग्राम मुलतवी कर दिया और आप श्री शचीन्द्र के साथ शान्ति क्रायम करने में लग गये. एक सितम्बर को ही श्री शचीन्द्र एक शान्ति जुलूस को निकालते हुए छुरे के शिकार हुए, लेकिन शान्ति जुलूसों का सिलसिला जारी रहा. ३ सितम्बर बुधवार को इसी तरह के एक जुलूस को

[ “शहीद शेरवानी” लेख के लेखक भाई वीर वीरेश्वर जी उन बहादुर काश्मीरी नौजवानों में से हैं, जो क़वयलियों के हमले के वक़्त, बजाय इसके कि और लोगों की तरह भाग आते, काश्मीर में ही जमे रहे थे और निराशा की उन घड़ियों में बड़े धीरज के साथ एक ज़िम्मेदारी की जगह पर काम करते रहे थे. इसके बाद जब काश्मीर की हालत काफ़ी सुधर गई, तब आप अम्बाला आ गये और आज कल अम्बाला के डी० ए० वी० कालेज में प्रोफ़ेसर हैं.

शहीद शेरवानी से वीरेश्वर जी का निजी परिचय था, इसीलिये इस लेख में एक ऐसा दर्द है, जो पढ़ने वालों के दिल को छूए बिना नहीं रह सकता.

वीर वीरेश्वर जी हर एक मसले पर खुद अपने तौर पर सोच विचार करते हैं और कभी किसी संगठन या जमात की बात आँखें मूँद कर नहीं मान लेते. इसीलिये कुछ लोग उन पर यह इलज़ाम लगाते हैं कि उनके दिल में हिन्दू फ़िरक़ा परस्ती का ज़हर भरा हुआ है. दूसरी तरफ़ ऐसे लोग, जिनके इरादे और करतूतें अब जग ज़ाहिर हो गई हैं, उन पर यह इलज़ाम लगाते हैं कि वह मुसलमानों के साथ पन्नपात करते हैं. ऐसे ही वक़्त शायद किसी शायर ने अपना वह मशहूर शेर कहा होगा—

“ज़ाहिदे तंग नज़र ने मुझे काफ़िर समझा  
और काफ़िर यह समझता है, मुसलमाँ हूँ मैं.”

लेकिन वीर वीरेश्वर जी को न इनकी परवाह है और न उनकी. वह दोनों के इलज़ामों पर मुस्करा देते हैं. कभी कभी उनको दुख भी होता है, क्योंकि आखिर वह भी आदमी ही हैं. लेकिन उनको समझना चाहिये कि इस निटुर दुनिया का सिर्फ़ उनके ही साथ यह बरताव नहीं है.

वीर वीरेश्वर जी जैसी दुनिया चाहते हैं, वैसी ही दुनिया बन जाय, यही हम सब की कामना है.

—सम्पादक ]

## शहीद शेरवानी

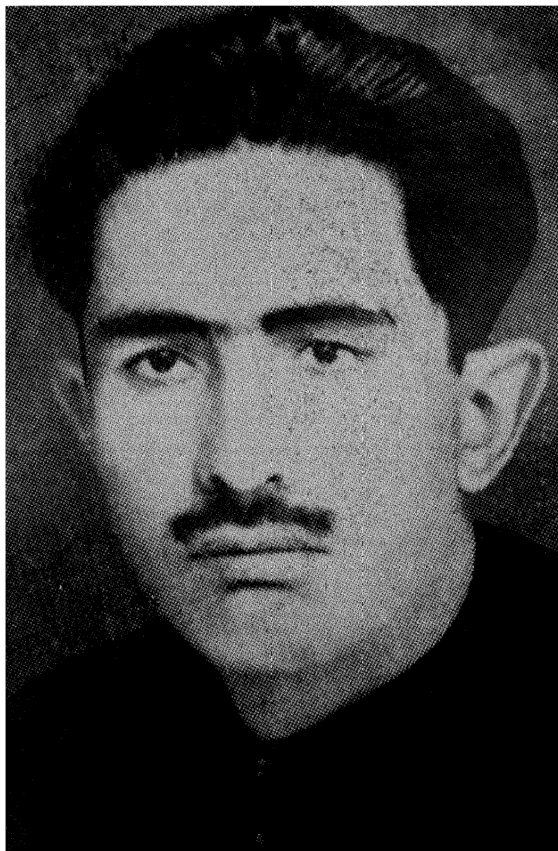
[ भाई वीर वीरेश्वर जी प्रोफेसर डी० ए० वी० कालेज, अम्बाला ]

२२ अक्टूबर १९४७ की मनहूस सुबह को पाकिस्तान की शह पर क़नायली हमलावरों ने श्रीनगर ( कश्मीर ) के उत्तर-पच्छिम की ओर से हमला किया. दिन चढ़ने से पहले पहले सारा शहर मसान बन गया. हर तरफ़ से आग की लपटें उठ रही थीं. मकान, गोदाम, दूकान और गुरद्वारे, मन्दिर, मसजिद सब धू धू करके जल रहे थे. किशन-गंगा का मीठा नीला पानी बेगुनाहों के खून से लाल हो चला था. सारा दरिया लाशों से पाट दिया गया. मनो सोना चाँदी कोहाला के रास्ते रावलपिंडी पहुँचाया गया और दिन भर लूटमार और अस्मतदरी का बाज़ार गर्म रहा. इसके दूसरे दिन हमलावर आँधी की तरह बढ़ते बढ़ते तीस चालीस मील और आगे बढ़ आये और दोपहरी तक मुजफ़्फ़राबाद से उड़ी तक के सारे गाँव खाक कर दिये गये. कुछ लोग, जो जान बचा कर भाग निकलने में सफल हो गये थे, हांपते कॉपते, गिरते पड़ते बारामूला चले आये. उड़ी के नज़दीक होने के कारण यह ख़बर सबसे पहले बारामूला में पहुँची. वहाँ लोगों में भय और आतंक छा गया लेकिन उन्हें अपने छोटे शेर मीर मक़बूल शेरवानी पर पूरा भरोसा था. शेरवानी ने अपने फ़र्ज को पहिचाना और जनता को तसल्ली देकर और उसे अपना फ़र्ज सुभाकर खुद मोर्चे पर गया, जहाँ रियासती फ़ौज की एक टुकड़ी ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह की कमान में नामला पुल पर हमलावरों को रोकने की आखिरी

कोशिश कर रही थी. वहाँ से कुछ मील वापस आकर शेरवानी रामपुर में ठहरा. वहाँ लोगों को अपना फ़र्ज अदा करने के लिये उभारा हमलावरों से अपने देश को बचाने के लिये उसने एकता को सबसे ज़रूरी बताया.

जब शेरवानी इस तरह रामपुर में लोगों के हौसले बढ़ा रहा था, श्रीनगर में इस हौलनाक हादसे की खबर जंगल की आग की तरह फैल रही थी. वहाँ लोगों के हौसले और भी पस्त हो गये. जब बारामूला रोड का ट्रैफ़िक बन्द हो गया तो लोग बड़ी-बड़ी कीमतें दे कर टाँगों और बैलगाड़ियों में चले आने लगे. हालात बड़ी तेज़ी से बदल रहे थे और मक़बूल शेरवानी खुद इस बात को महसूस कर रहा था, इसलिये कुछ देर रियासती फ़ौज के साथ दुश्मन को रोकने का काम अपने कुछ साथियों को सौंप कर वह खुद अपने शहर बारामूला की फ़िज़ा को संभालने के लिये चला आया. २४ की सुबह को वहाँ पहुँचते ही उसने लोगों के दिलों में एक नई उम्मीद और उनके सीनों में एक नया जोश और बाज़ुआँ में एक नया ताक़त भर दी. देश के नाम पर उसने सारी जनता से प्रार्थना की कि अपने प्यार देश की मर्यादा के मुताबिक़ ही हिन्दू, मुसलमान और सिख भाई एक होकर अपने सुन्दर देश को बचायें. इस तरह भीतरी हिफ़ाज़त का भार नैशनल कानफ़रेन्स कमेटी पर छोड़कर वह असली हालत को समझने के लिये श्रीनगर चला आया श्रीनगर में हमले का ख़बर सुनते ही नैशनल कानफ़रेन्स ने हिफ़ाज़ती दस्ते तैयार करने शुरू कर दिये थे और उसका दफ़तर लाल चौक के पास व ले कारोनेशन होटल में खोल दिया गया था. उसी शाम को मायसुमा चौक में शेरे कश्मीर शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला ने सारी घटना को जनता के सामने रक्खा और दस हज़ार ऐसे नौजवानों के लिये अपील की जो इस आड़े वक़्त में देश के बचाव के लिये काम कर सकें. मक़बूल शेरवानी ने भी शायद इस अपील को सुना और जलसे के बाद ही वह अपने कायदे आज़म शेरे कश्मीर शेख़ अब्दुल्ला से कारोनेशन होटल में मिला.

# आज के शहीद



मीर मक़बूल शेरवानी



शेरवानी की दिलेरी को शेख ने काफ़ी सराहा. लोग कहते हैं कि कुछ देर बाद जब वह उनसे बात-चीत करके बाहर आया तो उसके मुँह से गम्भीरता, धीरज और एक मुस्तक़िल इरादे के भाव झलक रहे थे. ऐसा दिखाई दे रहा था कि उसने एक भारी मुहिम को सर करने का आखिरी फ़ैसला कर लिया है.

हमलावरों की बढ़ती हुई कारवाइयों की खबरें बराबर आ रही थीं. बारामूला में व्यापार के काम से रुके हुए लोग भी धड़ाधड़ लौटने लगे. इसी समय महोरा पावर हाउस फ़ेल हो गया. सारे शहर में रोशनी की जगह अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देने लगा. इससे यह अन्दाज़ लगाया गया कि क़बायली महोरा पावर हाउस, जो बारामूला से कुछ मील ही दूर है, तक आ पहुँचे हैं. शहर में इससे और भी मायूसी बढ़ चली. श्रीनगर में सारी हुकूमत की बन्दिश टूटती होने लगी, लेकिन नैशनल कानफ़रेन्स ने राजधानी और इससे आगे और अड़ोस-पड़ोस के इलाक़ों को बचाने का इन्तज़ाम शुरू किया. इस हालत में शेरवानी की ज़िम्मेदारियाँ और भी बढ़ गईं और खासकर जब कि हमलावर उसके घर के दरवाजे तक आ गये थे और उसके साथी उसकी राह देख रहे थे. बारामूला की जनता को शेरवानी पर काफ़ी यक़ीन था. उसे उसकी नेक दिली और हमदर्दी पर पूरा भरोसा था. और इसी बल पर उसने सन् ४४ में आल इंडिया मुस्लिम लीग के सदर मिस्टर जिनाह के पैर वहाँ नहीं जमने दिये थे. ता० २६ अक्टूबर की सुबह को हाँ मोटर साइकिल लेकर शेरवानी बारामूला की ओर चला आया. बारामूला रोड उस दिन खतरे से ख़ाली नहीं थी. इक्के-दुक्के क़बायली उस सारी सड़क पर छा गये थे जो श्रीनगर से बारामूला जाती है और फिर दिन को किसी भी समय क़बायलियों के बढ़ आने का पूरा-पूरा इमकान था, लेकिन शेरवानी रोकने पर भी न रुक सका. बारामूला उसे बुला रहा था. जिस बारामूला में वह अब तक लोगों में सच्ची बेदारी फैलाता रहा, नैशनल कानफ़रेन्स के उसूलों के मुताबिक़ माई चारे का पाठ पढ़ाता रहा, उसी अपनी मातृभूमि को वह आज अकेला

कैसे छोड़ सकता था. वह बरामूला पहुँचा. वहाँ उसके वालन्टियर पहले ही हिफ्जाज़ती दस्ते का काम कर रहे थे और इस बात के लिये होशियार थे कि कहीं वहाँ पर फ़िरक़ेवाराना बलवा न खड़ा हो जाय. शेरवानी ने आते ही उनको हिन्दू यूनिशन और कश्मीर के बीच चलने वाली बात चीत की खबर सुनाई और उन्हें शेर कश्मीर का यह संदेश सुना दिया कि “कश्मीरी मुसलमान को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के हिन्दू-मुसलमानों के लिये एक मिसाल कायम करनी है. क़नायली हमारे हिन्दू और सिख भाइयों पर जुल्म ढा रहे हैं. मुसलमानों को अपनी जान पर खेलकर अपने हिन्दू सिख पड़ोसियों की हिफ्जाज़त करनी पड़ेगी क्योंकि हर हिन्दू और सिख की जान मेरे लिये अमानत है .....”

वक्त कम था और काम ज़्यादा. क़नायली हमलावरों के बढ़ते आने की खबर बराबर आ रही थी, यहाँ तक कि आस पास के गाँवों से गोलियों की आवाज़ें भी सुनाई देने लगीं लेकिन शेरवानी अपना काम बराबर करता गया. शेर कश्मीर का संदेश हर एक मुसलमान तक पहुँचाता रहा. लोग जब अपने घरों में अपनी जान और माल को बचाने की तदबीरें सोच रहे थे तो शेरवानी अपने घर को योंही छोड़कर मोटर साइकिल पर आस पास के गाँवों और कस्बों, जैसे सोपुर और पटन में जाकर लोगों के हौसले बलन्द करता रहा. वह हिन्दुओं और मुसलमानों से भाई भाई की तरह रहने की अपील करता था, और इस तरह से अपने देश और अपनी इज़्ज़त को बचाने की तदबीरें बताता था. वह जनता को हमलावरों को रोके रखने की हिम्मत दिलाता था ताकि वह उसी रफ़्तार से श्रीनगर न पहुँच सकें जिस रफ़्तार से वहाँ तक आ पहुँचे थे. इस तरह जगह जगह उनके लिये रुकावटें पैदा करके वह चाहता था कि वहाँ तक पहुँचते पहुँचते दुश्मन को कुछ दिन और लग जायें जिससे शायद हिन्दू से कुछ आ जाय और देश का बचा हुआ हिस्सा बस्बादी और तबाही से बच जाय. उसे अपने घर की चिन्ता नहीं थी. बस कश्मीर उसका अपना घर था और सारी हिन्दू मुसलमान जनता

उसकी भाई बहन थी. सोपुर से लौटकर वह पटन जा ही रहा था कि उसे बारामूला के गिरने का समाचार मिला. आस पास के देहातों और क़बायलियों के हमलों की ख़बर वह बराबर श्रीनगर में नैशनल कानफ़रेन्स के दफ़्तर पर पहुँचाता रहा. एक बार खुद भी उसे वहाँ जाना पड़ा. तब उसके दोस्तों ने उसे रोक लेना चाहा था लेकिन वह रुक न सका. उस वक़्त सभी हिन्द सेना के आने के इन्तज़ार में थे क्योंकि हिन्द सेना तय हो चुका था. नैशनल मिलेशिया के अफ़सरों का खयाल था कि शेरवानी को फ़ौज के आने पर मिलेशिया के साथ बारामूला भेजा जाय, लेकिन यह खयाल शेरवानी को पसन्द न आ सका. इधर श्रीनगर के बाज़ारों में हिफ़ाज़ती दसते और क़ौमी फ़ौज (मिलेशिया) “हमलावर—ख़बरदार, हम कश्मीरी—हैं तैयार” के नारों से आसमान को गुन्जा रही थी. लोगों के दिलों में जोश भर रही थी—उन्हें एक होकर देश पर मर मिटने के लिये उभार रही थी. और उधर शेरवानी सचमुच हमलावरों से लड़ने चल दिया.

इस बार बारामूला जाते वक़्त उसे रास्ते के लिये भेस भी बदलना पड़ा. वह एक क़बायली सा बना और उनसे मिलकर वह उन्हें कई टुकड़ियों में बाँटता गया ताकि कहीं वह काफ़ी तादाद में इकट्ठे होकर किसी एक तरफ़ न चढ़ आयें. वह उन्हें बराबर भटकाता रहा जिससे कि उनको ठीक रास्ता न मिल सके. और दूसरे दिन २७ अक्टूबर को जब हिन्द सेना हवाई जहाज़ों में श्रीनगर आई तो क़बाइलियों के होश उड़ गये. वह श्री नगर के दरवाज़ों तक पहुँच गये थे और अब उन्हें इस बात का अफ़सोस हो रहा था कि रामपुर और बारामूला में वह क्यों रुके रहे. अब शेरवानी की ज़िम्मेदारियाँ और भी बढ़ गईं. वह हिन्द सेना को भी इत्तला देता और क़बायली हमलावरों का भी पता रखता. वह क़बायलियों को ठीक उसी रास्ते पर लगा देता था जिससे कि वह हिन्द सेना का ठीक-ठीक निशाना बन सकें. पटन से कुछ दूर श्रीनगर की तरफ़ सिंहपुर में उसकी इस चाल से क़बायली काफ़ी तादाद में काम

आये, उनका दूसरा बड़ा कैम्प पटन में था. शेरवान, पहले उसे निशाना बनवाना चाहता था ताकि क़बायली डरकर पीछे हट जायँ और उसके बाद उन्हें और पीछे धकेल दिया जाय. इसमें भी वह कामयाब रहा और पटन में उनकी एक खासी टुकड़ी उड़ा दी गई. यहाँ से कुछ क़बायली मुम्बल गांव की ओर चले आये. आते ही वहाँ उन्होंने सारे गाँव में हाहाकार मचा दिया. शेरवानी फ़ौरन ही वहाँ भी पहुँचा और वहाँ के तमाम हालात हिन्दू सेना के पास भेज दिये, जिससे वहाँ के क़बायलियों को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा. क़बायली सरदारों और फ़ौजी अफ़सरों को अपनी इस अचानक हार पर हार देखकर अचंभा हुआ. उन्हें अब इस नये पठान ( शेरवानी ) पर शक होने लगा और उन्होंने छानबीन करनी शुरू कर दी. कुछ खास आदमी सिर्फ़ इसीलिये तैनात किये गये. बात यह थी कि क़बायलियों को मुज़फ़्फ़राबाद से बारामूला तक कहीं भी ऐसी मुँहक़ी नहीं खानी पड़ी थी और न उनके आदमी ही इतनी तादाद में कहीं मारे गये थे लेकिन यहाँ दो तीन दिनों में ही काफ़ी आदमी काम आये इससे उनका शक और भी बढ़ गया. एक दिन मुम्बल से बारामूला आते आते एक मुस्लिम लीगी ने इसका भेद क़बायलियों को दिया और दूसरी सुबह शेरवानी क़बायलियों की क़ैद में था.

बारामूला में जो हालत उसने अपने भाई बहनों की देखी उसे देखकर उसका दिल रो उठा था. वहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों को समान तौर पर लूटा गया था. उनके मकानों को आग लगा दी गई थी. औरतों की बेइज़्ज़ती की गई थी. यह सब देखकर उसका खून खौल उठा था. जब उसे इस्लाम के नाम पर “जिहाद” की बातें सुनाई गईं तो उसने निडर होकर उनकी बातों का जवाब दिया और साफ़ साफ़ कहा— “इस्लाम के नाम पर नन्हं नन्हे बच्चों और औरतों को क़त्ल करना ‘जिहाद’ नहीं कहलाता. औरतों का बेइज़्ज़ती करना, उन पर हमला करना, लूट मार करना यह सब इस्लाम को तालीम नहीं है—हिन्दू और मुसलमान सब एक ही खुदा के बेटे हैं. मुश्बत

और सचचाई इस्लाम के दो बड़े उसूल हैं...’ लेकिन बर्बर क़वायलियों के मुँह से भेड़ियों की तरह इन्सानी खून लग चुका था. मुफ्त माल की चाट उन्हें पड़ चुकी थी. शेरवानी की इस साफ़ गोई से वह और भी बिगड़े. वह उस पर टूट पड़े. उसे ‘ग़द्दार’ साबित किया गया और तय हुआ कि दूसरे दिन जुम्मा की नमाज़ के बाद उसे सूली पर चढ़ा दिया जाय

३१ अक्टूबर—जुम्मा (शुक्रवार) को सारे क़स्बे में डोंडी पिटवा दी गई ताकि सभी लोग इकट्ठे हों और ‘नाफ़रमानी’ की सज़ा को देख लें. सूली पहले ही तैयार थी जो चौक में एक मकान के सहारे बनाई गई थी. सबसे पहले उसे सलीब पर लटका दिया गया. हाथों में कीलें ठोंकी गईं और उससे हिन्द सेना का हाल पूछा गया. लेकिन उसने कुछ भी बताने से इन्कार कर दिया तब उसकी पेशानी पर ‘यह ग़द्दार है’ की तख़्ती कील से ठोंकी गई. शेरवानी बड़े धीरज से खड़ा खड़ा यह तमाम जुल्म सहता रहा. उसकी ज़बान से ‘उफ़’ तक न निकली. लोग उसकी हिम्मत को देखकर जोश में आते थे, लेकिन चारों तरफ़ क़वायली भेड़ियों से घिरे हुए होने की वजह से बेबस थे. वह खून के आँसू रौने लगे लेकिन आँसू पीते गये. शेरवानी के होंठों पर एक अजीब सी मुस्कराहट खेल रही थी जैसे कि वह अपना फ़र्ज निभाने पर खुश खुश मर रहा हो. इस्लाम के ठेकेदारों ने उसे जुम्मा की नमाज़ तक पढ़ने नहीं दी, जो उसकी आखिरी ख़ाहिश थी इस पर वह चीख़ उठा—

“हिन्दू मुस्लिम सिख इत्तिहाद—ज़िन्दाबाद”

“नया कश्मीर—ज़िन्दाबाद”

“शेरे कश्मीर—ज़िन्दाबाद”

इन नारों पर क़वायली सरदार और भी बिगड़े. अब उस पर गोलियाँ दागी गईं, उसके बदन को छलनी बना दिया गया. और लोगों में दहशत कायम रखने के लिये लाश वहीं रहने दी गई ताकि फिर कोई ऐसी हरकत करने की हिम्मत न करे.

कश्मीर के इस हमले में मक़बूल शेरवानी का बलिदान अपने किस्म का एक अनोखा बलिदान है जिसमें वफ़ादारी, प्रेम, हमदर्दी, देशभक्ति और इन्सानियत सभी चीज़ें एक साथ मिलती हैं।

मक़बूल शेरवानी अपने माँ बाप का अकेला सहारा था, अपने घर का अकेला दीपक था. अपने जीवन और जवानी को सुख और विलास में न डालकर उसने अपने देश की भेंट चढ़ा दिया. उसकी आवाज़ मरते दम तक यही रही—“एक बनकर रहो, एक होकर दुश्मन से लड़ो, अपने देश को बचाओ.” जब उसे बरामूला बचता दिखाई न दिया तो उसकी सारी कोशिश श्रीनगर के बचाव की ओर लगी. इसीलिये आज वह कश्मीर के हर एक घर का दीपक है हर देशभक्त का सहारा और आदर्श है. नैशनल कानफ़रेन्स पहले ही बापू के आदर्श पर चली आ रही है और कश्मीर को इस बात का गर्व है कि वह बापू की शिक्षा की एक जीती जागती मिसाल है, जहाँ जनता पूरे भाई चारे से निबाह करती है. धर्म को राजनीति के साथ नहीं मिलाती और सांप्रदायिकता के साँप का मुँह वहाँ हमेशा के लिये कुचल दिया गया है. शेरवानी इसी नैशनल कानफ़रेन्स का एक जोशीला कारकुन था और इसी तालीम ने उसे यह हौसला दिया. उसने बापू की तालीम को सच्चाई के साथ समझा था और उसी पर अपना जीवन न्योछावर कर दिया. खुद बापू ने शेरवानी की शहादत पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई थी और शेर कश्मीर ने अपने इस बहादुर सिपाही की मौत पर कहा था—

“हज़ारों बरस तक हमारी आने वाली नसलें अभिमान से मुहम्मद मक़बूल शेरवानी की क़ायम की हुई इस मिसाल को याद रखेंगी. क़बायलियों के पंजे में आकर वह अपना जीवन बलिदान करने से न कतराया ताकि उसकी मौत से हमारा सुन्दर देश बच सके. खुदा उसकी आत्मा को शांति दे.....”

और सच मुच मीर मुहम्मद मक़बूल शेरवानी जैसे शहीद पर कश्मीर

ख़तना भी घमंड करे कम है. कश्मीर की आजादी के इतिहास में उसका नाम मुने के अक्षरों से लिखा गया है.

आज हिन्दुस्तान में जब मैं फ़िरका परस्तों की जहालत से भरी बातें सुनता हूँ और ऐसे लोगों को, जिनकी तमाम ज़िन्दगी अंग्रेज़ सरकार के पैर चाटते बीती है, कश्मीर की नैशनल कानफ़रेन्स पर, शेख़ अब्दुल्ला पर और अपने देश के नेताओं पर मुस्लिम परस्ती का शक़ जाहिर करते हुए देखता हूँ, तो मेरे दिल में एक टीस सी होने लगती है और मैं सोचने लगता हूँ कि मेरी इस प्यारी और शानदार हिन्दू क़ौम को हो क्या गया है, जो उन पर भी शक़ कर रही है, जो उनके लिये जान दे रहे हैं. मैं कश्मीर के ऐसे बहुत से हिन्दुओं को जानता हूँ, जो पाकिस्तान से साज़बाज़ करने में शरीक थे, या जो इस मुसीबत के वक़्त या तो चोर बाज़ारी करके दौलत भरने में लगे हुए थे या अपना माल मता समेटकर, जो उन्होंने हम शरीब कश्मीरियों को चूस-चूस कर इकट्ठा किया था; भाग आने को तय्यार थे. लेकिन कश्मीर का बच्चा-बच्चा जानता है कि शेख़ अब्दुल्ला ने ठीक वक़्त पर हमारे और अपने प्यारे कश्मीर को बचा लिया.

दिल तो चाहता है कि इस वक़्त उन ग़दरों के काम पर भी कुछ रोशनी डालूँ, जो पहिले तो हमेशा कश्मीर में हिन्दू मुसलमान का सवाल खड़ा करके आम जनता को कुचलने में हुकूमत की मदद करते रहे, और जब मुल्क पर मुश्किलें आईं, तब भी जितने भी बुरे से बुरे काम उनसे हो सकते थे, उन्होंने किये. यह सोचकर ही मेरा दिल काँप उठता है कि अगर पिछले ज़माने में पं० जवाहर लाल नेहरू शेख़ अब्दुल्ला की हिमायत में कश्मीर न पहुँचते. तो आज हमारी क्या हालत होती ? लेकिन हमारी खुश क़िरमती थी कि हम ठीक वक़्त पर बचा लिये गये.

एक कश्मीरी की हैसियत से मुझे मक़बूल शेरवानी पर नाज़ है और मुझे इस बात पर भी गर्व है कि जब कश्मीर के पड़ोस में भाई-भाई के गले पर तलवार चला रहा था, तब कश्मीर के मुट्ठी भर हिन्दू

अपने मुसलमान पड़ोसियों के बीच निहायत इज़्ज़त के साथ बिना किसी खतरे के रह रहे थे. इसकी वजह यह क़तई नहीं थी कि वहाँ एक हिन्दू राजा की हुकूमत थी. अगर हिन्दू हुकूमत ऐसी हिफ़ाज़त कर सकी होती, तो नैशनल कानफ़रेन्स के संगठन से पहिले कश्मीर में क्यों बलवे खड़े होते, जिसमें हिन्दुओं को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा था. बल्कि इसकी असली वजह कश्मीर के शेर शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला और मक़बूल शेरवानी जैसे बहादुर उनके सिपाहियों का आम जनता पर असर था, जिसने पिछले नौ दस बरसों से कश्मीर में कभी भी फ़िरका परस्ती को पनपने ही नहीं दिया. एक बार मिस्टर जिन्ना खुद भी इसके लिये वहाँ पहुँचे थे, लेकिन शेख़ साहब के सामने वह टिक नहीं पाये थे. इसी तरह हिन्दू फ़िरका परस्तों ने भी वहाँ हिन्दू मुसलमान सवाल खड़ा करने की काफ़ी कोशिश की. लेकिन उनको भा नाकामयाब होना पड़ा.

आज भी मेरे कश्मीर में फ़िरका परस्ता और इन्सानियत के बीच एक भारी जंग चल रही है. कश्मीर के बेटे और बेटियाँ बड़ी दिलेरी से उसम हिस्सा ले रहे हैं और हिन्दुस्तान की फ़ौजा के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर पाकिस्तानी फ़ौजो से जग कर रहे हैं. पाकिस्तान की तरफ़ से वहाँ इस बात का काफ़ी प्रचार हो रहा है कि हिन्दुस्तान में मुसलमानों पर भारी जुल्म हो रहे हैं, इसलिये कश्मीर के मुसलमानों को हिन्दुस्तान की हिमायत छोड़ देनी चाहिये. हिन्दुस्तान में कभी कभी जो बलवे हो जाते हैं, उससे पाकिस्तान को भारी मदद मिलती है. लेकिन कश्मीर के सपूत अपने उसूलों और अपने इरादों पर आडिग हैं, क्योंकि उनको बारामूला के शहीद शेरवानी की वह आखिरी पुकार याद है. कश्मीर कभी फ़िरकापरस्ती के आगे नहीं झुकेगा, नहीं झुकेगा, नहीं झुकेगा !

कश्मीर ज़िन्दाबाद.

नैशनल कानफ़रेन्स ज़िन्दाबाद.

मक़बूल शेरवानी ज़िन्दाबाद.

जय हिन्द

[ हैदराबाद के अमर शहीद शोएबुल्ला खान पर यह लेख बहन शान कुमारी जी हेडा ने लिखा है, जिन्होंने खुद हैदराबाद में प्रजा राज कायम कराने की लड़ाई में बड़ी बहादुरी से हिस्सा लिया है. इस लेख से हमको यह सबक मिलता है कि हमारे देश के जो लोग या जो संगठन हैदराबाद के मसले को 'हिन्दू-मुस्लिम' मसला बना देना चाहते थे, वह जनता को कितना बड़ा धोका दे रहे थे. क्योंकि एक तरफ तो हैदराबाद में हजारों हिन्दू ऐसे थे, जो निजाम और रिजवी के साथ थे और दूसरी तरफ शोएबुल्ला खान जैसे मुसलमान भी थे, जो बड़ी बहादुरी से निजाम और रिजवी की मुखालफत करते थे और आखिर इसी के लिये शहीद हो गये.

एक बात यह और गौर करने की है कि हैदराबाद में एक आदमी भी किसी ऐसे संगठन का नहीं मारा गया और न जेल गया, जो अक्सर वक्त बेवक्त हिन्दू मुसलमान का सवाल उठाते रहते हैं. वहाँ उन लोगों को ही रजाकारों का मुक़ाबला करना पड़ा, जो हिन्दू-मुसलमान सभी को एक नज़र से देखते हैं.

शोएबुल्ला खान की शहादत से एक सबक यह भी मिलता है कि कभी-कभी रिजवी जैसे लोग जनता को इतना गुमराह कर देते हैं कि उसे 'दिल्ली पर आसिफ़ जाही भंडा फरहाने की' पागलपन से भरी हुई बात तो अच्छी लगती है और शोएबुल्ला खान जैसे अपने सच्चे भला चाहने वालों की बातें कड़वी मालूम होती हैं. ठीक यही हालत आज से

कुछ साल पहिले हमारी थी, जब हमें बापू की बातें कड़वी मालूम होती थीं और जो लोग जोशीली बातें कहते थे, उनकी बातें अर्च्छी मालूम होती थीं. आज हैदराबाद के वह लोग, जो उस वक्त रिज़वी के साथ थे, इस बात पर पछताते हैं कि वह उस वक्त शोऐबुल्ला खान के कहने पर क्यों नहीं चले. ठीक यही हालत हमारी भी है. काश ! हैदराबाद के लोग शोऐबुल्ला खान की और हम बापू की शहादत से पहले ही इतना समझ सकते !

काश ! अब हम आगे ही ऐसी गलतियों से बच सकें. —सम्पादक ]

## मुहम्मद शोएबुल्ला खान

[ बहन ज्ञान कुमारी हेडा, हैदाराबाद ]

उस दिन प्यारे बापू बेजवाडा जा रहे थे. रास्ते के एक स्टेशन मानकोटा ( महबूबाबाद ) पर पुलिस इन्स्पेक्टर मौलवी हबीबुल्लाखान का इन्तज़ाम था. गान्धी जी की दुबली पतली देह और सच्चाई के नूर से चमकते हुए उनके चेहरे ने मौलवी हबीबुल्लाखान पर एक अजोब ही असर डाला. गान्धी जी का प्यारा रूप उनकी आँखों में समा गया. गाँव लौटे, तो खबर मिली कि वह एक बेटे के बाप हो गये हैं. मौलवी हबीबुल्लाखान ने अपने बेटे को देखा, तो वैसी ही तेज भरी आँखें और चौड़ा माथा देखते ही बोले—“अरे, यह तो बिलकुल गांधी है ।” और तब से वह उसे ‘गांधी शोएबुल्लाखान’ कह कर पुकारा करते थे.

\*

\*

\*

गान्धी जी के गोली लगी. बापू हमेशा के लिये चल बसे. शोएबुल्लाखान अपनी सीढ़ियों पर सर पकड़ कर बैठे थे, आँखों से आँसू टपक पड़े. इस तरह से कभी शमगीन न होने वाले अपने बेटे की आँखों में आँसू देख कर माँ ने कहा—“बेटा ! गान्धी महात्मा तो इतनी अच्छी मौत पाकर मरे हैं, फिर तू रोता क्यों है ?”

बेटे ने अपनी आँसू भरी आँखों से माँ की तरफ़ देख कर कहा—  
“अम्मी ! मैं भी ऐसी ही मौत पाऊँ तो तुम आँख में आँसू नहीं लाओगी न ?”

माँ सहम उठीं.

विधाता ने उसकी क्लिप्त में यही तो लिख दिया था. बापू का यह सच्चा भक्त ठीक उनकी ही तरह चल दिया. बापू ने भी अपनी क्लौम (अगर बापू की कोई क्लौम थी तो) के फ़िरका परस्तों के आगे सर झुकाने से इंकार कर दिया था, क्योंकि वह हिन्दू धर्म के शानदार सुनहरे नाम पर बेकस और बेवस इन्सानों के खून के छींटे नहीं देखना चाहते थे और शोएबुल्ला खान ने भी सब कुछ जानते समझते हुए भी रज़ाकारों के आगे सर झुकाने से इंकार कर दिया था, क्योंकि इस्लाम के नाम पर रज़ाकार जो कुछ कर रहे थे, उसे शोएबुल्लाखान जैसा सच्चा मुसलमान बर्दाश्त नहीं कर सकता था. इसीलिये जब हैदराबाद के सैकड़ों हिन्दू निज़ाम की और रज़ाकारों की तारीफ़ के गीत गाकर अपना मतलब पूरा कर रहे थे, तब शोएबुल्लाखान ने पूरी ताकत से रज़ाकारों की मुखालफ़त की और उसका 'नतीजा उनको वही भुगतना पड़ा, जो बापू को भुगतना पड़ा था. तभी तो उनके बूढ़े माँ बाप बिलख बिलख कर कहते हैं—

“बेटे, तुमतो उन्तीस बरस की भरी जवानो में ही उनासी बरस के महात्मा के पीछे उसी तरह चल बसे.”

\*

\*

\*

लगभग पन्द्रह दिन पहले एक दिन दोपहरी में बातचीत के बीच मैं उनकी उमर पूछ बैठी. वह तपाक मे हँसते हँसते बोले—“अक्तूबर महीने में पैदा होने वाले बड़े भाग्यशाली होते हैं बहन ! गान्धी जी दी अक्तूबर को पैदा हुए थे और मैं अठारह अक्तूबर को पैदा हुआ हूँ.” उनकी इस बात पर हम दोनों खिलाखिला कर हँस पड़े, क्योंकि हम दोनों भी ११ और १४ अक्तूबर को पैदा हुए हैं.

एक दिन हेडाजी ने हमेशा की मानिन्द मजाक और किसी हद तक गम्भीरता के साथ भी उनसे कहा—“देखो मिर्छो ! तुम कलम बहुत चलाबे हो और तुम्हारे पेपर पर जल्दी जल्दी सैन्सर शिप का आर्डर भी आता

है. हुकूमत या मजलिस कांग्रेसी हिन्दू से पहिले कांग्रेसी मुसलमान को खतम करना सोचेगी, हमारे पास पहले तिरमिज़ी साहब थे. अब तुम उस हलके के नेता हो, जो सचाई और शान्ति का निडर प्रचारक है. हाँ, एक ही सूरत में वह तुम्हारा खयाल शायद छोड़ दे कि तुम्हारे जैसे मुसलमान को मार कर वह खोखली हो जायगी. दूसरे मुल्कों में उसे मुँह दिखाने को जगह नहीं मिलेगी. वरना मुझे तो हमेशा यह डर रहता है कि पहला वार तुम पर ही होगा. हो सकता है कि नवाब मंज़ूर जंग बगैरा का यह बयान आने के बाद वह पहले इन नेशनलिस्ट मुसलमानों को रास्ते से हटाये, तुम्हारा नम्बर बाद में आवे.”

हेडाजी की इस बात के जवाब में शोएब भाई सिर्फ़ एक लुभावनी हँसी हँस कर रह गये थे.

हाय ! विधाता को हमारे इसी डर को सच साबित करके हमें कल-पाना था. निडर और बहादुर शोएब भाई तरह तरह की मुश्किलों का सामना करते हुए, अपने मुसलमान मजिलसी भाइयों के ताने, गालियाँ, धमकी, सभी कुछ सहते हुए अपनी कलम इन्साफ़, सचाई और शान्ति के लिये चलाते ही रहे. उनके रोएँ रोएँ में देश और क़ौम की सेवा का सच्चा भाव भरा हुआ था. अपने मारे जाने की बात को वह मीठी मुस्कान के साथ टाल दिया करते थे.

\*

\*

\*

२० अगस्त १९४८ को शोएब भाई को एक खत मिला, जिसमें उनको “गान्धी का बेटा” का गाली देकर मार डालने की धमकी दी गई थी. इसी तरह के खत पहले भी कई बार मिल चुके थे. उसी रात को उनके अखबार ‘इमरोज़’ के दफ़्तर में स्टेट कांग्रेस के नेता और उनके गहरे दोस्त श्री बी० रामकिशन राव और हेडा जी से उस खत का ज़िक्र हुआ. रामकिशन राव जी ने कहा—‘ शोएब ! तुम इसे गाली नहीं समझ सकते ?’

जवाब में शोएब भाई ने कहा—“गान्धी जी मेरे ही क्या, पूरे मुल्क के पिता थे. इससे बढ़कर मेरी तारीफ़ क्या हो सकती है. मेरी आरज़ है कि मैं इसके क़ाबिल बनूँ.” रामकिशनराव जी उनके इस आखिरी जुमले पर कुछ चौंक से गये और बोले—“लेकिन तुमको संभल कर रहना चाहिये.” लेकिन होनी ने उनसे कहलवाया—“मुझे तो फ़ख़ होगा अगर मैं बापू की ही तरह चला जाऊँ.”

और तीस घंटे भी न बीत पाये थे कि वह बहादुर गान्धी जी की ही तरह हँसते हँसते चल बसा.

\*

\*

\*

२२ अगस्त को ‘इमरोज़’ का अंक निकला. न जाने पहली रात को अख़बार एडिट करते हुए शोएब भाई को क्या सूझा कि “आज के लिये खयाल” में उन्होंने मशहूर इंकलाबी शायर ‘जोश’ मलीहाबादी की नीचे लिखी रुवाई भी लिख डाली—

“तक़रीर के वक़्त क्यों न बोलूँ साक़ी ?  
क्यों दिल का गिरह मय सं न खोलूँ साक़ी ?  
बरबाद ता होना है बहरहाल मुझे  
द ज़ाम कि आघाद तो हाँलूँ साक़ी.”

नीचे के दोनों मिसरों में तो जैसे उन्होंने अपने दिल की तस्वीर ही खींच कर रख दी थी.

\*

\*

\*

२१ ता० को दो घंटे तक शोएब भाई मेरे घर पर हमेशा की तरह आकर बैठे. हैदराबाद की हालत पर चर्चा चली. हेडा जी ने उनसे फिर कहा—“शोएब साहब ! आप अपने लिये सोचिये. वह जगह बदल डालिये. संभल कर रहने में क्या हरज है ?” लेकिन बहादुरी और हिम्मत का वह पुतला अपने विश्वास और अपने विचार से टस से मस न होता था. उसने अपनी उसी पुरानी मुस्कराहट के साथ कहा—“जो होना है, वही

होने दीजिये. मेरी कुर्बानी भी हुई, तो वह खाली नहीं जायगी. हो जाने दीजिये. जो खुदा को मंजूर है.”

इसके बाद दूसरी बातें छिड़ गईं. हैदराबाद के नुमाइन्दों का यू० एन० ओ० में जवाब देने के लिये उनको कुछ साथियों को लेकर पेरिस, अमरीका वगैरा में जाना चाहिये, इस मसले पर भी हम सबने विचार किया. उस वक़्त हममें से कौन जानता था कि यह मुलाक़ात और यह बातचीत बस आखिरी है. और मैं ही क्या जानती थी कि भाई शोएब अब कभी इस घर में अपनी इस खास मुस्कराहट के साथ ‘आदाब बहिन’ कहते हुए नहीं आ सकेंगे.”

\*

\*

\*

२१ तारीख को हम लोग बेफ़िक्री की नींद सो रहे थे और उधर रात को सवा बजे वह शेर शहीद हो रहा था. पिस्तौल की गोलियों से छाती और अन्तर्द्वारों छलनी की जा रही थी. कासिम रिजवी के हुक्म की तामील हो रही थी, क्योंकि वह एक ऐसे ग़द्दार थे, जिनकी क़लम हमेशा मुल्क की भलाई के लिये, हैदराबाद में आसफ़जाही भंडे के नीचे सच्चे प्रजाराज के लिये, और हैदराबाद की भलाई को खयाल में रखकर हिन्दू यूनियन में शिरकत करने की हिमायत में चलती रही थी. सिर्फ़ दस महीने ही तो हो पाये थे, जब ‘इमरोज़’ रोज़ाना हुआ था. लेकिन इन दस महीनों में ही शोएबुल्ला खान की क़लम ने मजलिसी और सरकारी हल्कों में खलबली मचा दी थी. उनकी क़लम में कुछ ऐसा ही जादू था.

क़रीब पाँच बरस पहिले की बात है, कायदे मिल्लत नवाब बहादुर यार जंग, जो उस वक़्त इत्तिहादुल मुसलमीन के सदर थे, की मौत के बाद आला हज़रत निज़ाम साहब ने मजलिस के अगले प्रोग्राम और फ़र्ज़ पर रोशनी डालने के लिये अपने दस्तख़तों के बिना कुछ फ़र्मान निकालने शुरू किये. यह फ़र्मान ‘मुवहे दकन’ अखबार के ऊपर के पेज

पर मोटे मोटे हुरूफ़ में छपते थे. हैदराबाद के नेशनलिस्ट मुसलिम हलकों में इन फ़र्मानों का जवाब देने की जरूरत महसूस की जा रही थी, लेकिन सवाल यह था कि बिल्ला के गले में घंटी कौन बांधे ? उन दिनों भाई शोएब ने “ताज” नाम के अखबार में अखबार नवीसी की जिन्दगी शुरू ही की थी. उन्होंने फ़ौरन ही कहा - “सचाई को सामने रखने में भा आगा पाछा सोचने की क्या जरूरत है ?” दूसरे ही दिन ‘ताज’ में उनके नाम से एक लेख छपा, जिसमें बहुत ही साफ़ साफ़ लफ़्ज़ों में उन्होंने इस बात पर कड़ी नुक्ता चार्ना की कि शाह फ़र्मान बिना दस्तखत के क्यों निकल रहे हैं और कैसे निकल सकते हैं. इसके अलावा कोई बादशाह किसा फ़रक़ा परस्त सगठन के भ्रमेले में कैसे पड़ सकता है ? वगैरह. इसका नर्ताजा यह हुआ कि ‘ताज’ उसी दिन बन्द करा दिया गया और भाई शोएब उसी दिन से हुकूमत का आंस में काटे की तरह चुभने लगे थे. फिर ‘इमरोज़’ में उन्होंने पिछले दस महीनों से जा लेख लिखे, उन लेखों ने तो कासिम रिजवी और हुकूमत दोनों को दहला सा दिया था. उनके पैर लड़खड़ाने लगे थे. फिर भला रिजवी इतने बड़े ‘गद्दार’ को कैसे सहन कर सकता था, जिसकी कलम उसकी अन्धी अज़ल के मुताबिक़ ‘ममलिकते आसफ़िया’ के खिलाफ़ चल रही थी.

१६ अगस्त को सुबह साढ़े दस बजे ज़मुरद महल टार्काज़ में हिटलर के पाकिट एंडीशन रिजवी ने ‘निजात दिन, मनाये जाने के सिलसिले में कहा था -

“गद्दार हर ज़माने में थे. यहाँ और इस वक़्त भी मौजूद हैं. मुझे इसकी पर्वाह नहीं है, मैं तुम्हारा नुमाइन्दा हूँ. मैं हर उस हाथ को काट दूँगा, जो ‘ममलिकते आसफ़िया’ ( आसफ़जाही साम्राज्य ) के खिलाफ़ उठेगा.....”

ठीक है, बापू को भी तो फ़िरक़ा परस्त हिन्दू ‘गद्दार’ कहते थे और

इसी तरह मारने की धमकी देते थे, क्योंकि बापू इन्साफ़ की बात कहते थे। लेकिन तानाशाही इन्साफ़ की बात कब पसन्द करती है ?

\* \* \*

रिज़वी ने जो कुछ कहा, उसे सच करके भी दिखा दिया। शोएब और इस्माईल खान २१ तारीख की रात को आफ़्रिस से लौट रहे थे, पहिले उनको गोलियों का शिकार बनाया गया और फिर उनका सीधा हाथ और बायाँ हाथ काटा गया। इसी तरह का हमला शोएब भाई के साले और 'इमरोज़' के मैनेजर इस्माईल खान पर भी किया गया। गोली उनकी बाँह को छूती हुई निकल गई। वह चिल्लाये—“शोएब भय्या को मारा जा रहा है。” कुछ पड़ोसी और उनकी पत्नी शोर सुन कर बाहर आये। देखकर वह चीखीं और फिर पड़ोसी की मदद से भीतर ले जाने लगीं। पसली के नीचे गोली लग कर आर-पार हो गई थी। एक गोली छाती पर भी लगी थी। इतने पर भी हिम्मत का वह धनी कुछ क़दम पैदल चला, लेकिन घर के फाटक के सामने आकर गिर गया। आधीरात में सुनसान सड़क पर नामदों ने फिर इस बेवस और घायल नौजवान पर तलवारों के वार किये। यह मज़हबी दीवाने सचमुच ऐसे ही बहादुर होते हैं। बापू के दुबले पतले शरीर पर गोलियाँ चलाते वक़्त भी यह लोग जैसे बड़ी भारी बहादुरी समझ रहे थे।

हाथ कट चुके थे। एक बाँह पर छै और दूसरी पर चार गहरी चोटें थीं, सीधी तरफ़ आधा सिर घायल था। कान लटक पड़ा था, लेकिन हिम्मत ने तब भी साथ नहीं छोड़ा था।

इसी बीच पड़ोसी की मदद से एम्बूलैन्स कार आ गईं। पुलिस भी आ पहुँची। पुलिस आफ़सर को उन्होंने अपना बयान देना चाहा, लेकिन पुलिस ने मजिस्ट्रेट न होने का बहाना करके बयान लेने से इन्कार कर दिया। साज़िश पूरी थी, फिर भी उन्होंने क्रातिलों के नाम बताये, जो शायद उसी मुहल्ले के और आस-पास के थे। चाँदनी रात थी, इसलिये पहिचानना आसान था।

अस्पताल में बूढ़े बाप से उन्होंने कहा—“आपने मुझे इकलौता समझ कर बड़े नाज़ों से पाला था, (शोएब भाई अपने ग्यारह भाई बहिनों में अकेले बचे थे) लेकिन मुझमें तो पठान का खून था—आप समझते थे मेरा लाल नाज़ुक तबियन का है ! अन्ना ! मेरे चोट बहुत लगी है. पेट में सख्त दर्द है. मेरे तीन गोलियाँ लगीं, इतनी चोट है—पर अन्ना ! मैंने उफ़ तक नहीं की. क़ातिल भी समझ लें कि मैं एक पठान था.... अन्ना ! लड़कियों का खयाल रखना...मेरा ‘इमरोज़’ जारी रहे....मेरे अज़ीज़ों को बुला....”

ठीक साढ़े चार बजे उस उन्तीस बरस के होनहार नौनिहाल को हमसे हमेशा के लिये मौत छीन ले गई. उनके साथी, हम लोग उनके याद करने पर भी वज़त पर न पहुँच सके. ताज़ुब है कि इतनी सख्त चोटों के बावजूद वह तीन घन्टे तक कैसे ज़िन्दा रहे और इतनी रात इतनी हिम्मत के साथ कैसे कर सके ? हाँ, यह सब उस बहादुर की शान में चार चाँद लगाने के लिये हुआ.

२२ ता० को सुबह दिल को बँटा देने वाली यह खबर सुनी. हम सब अपना माथा ठोंक कर रह गये. हेडा जी के मुँह में निकल पड़ा -- “सबसे बड़ी कुर्बानी हमने दे दी. हैदराबाद का आजादी इसमें भी बढ़ कर और क्या कुर्बानी चाहती है ?”

मैं फ़ौरन शोएब भाई के घर पहुँची. कुछ और साथी अस्पताल गये. घर पर माँ और पत्नी का विलाप और अस्पताल में बेजान देह के अलावा और क्या मिलने वाला था.

पोस्टमार्टम वगैरह के बाद साढ़े बारह बजे लाश घर पर लाई गई. लाश पर से खून में भरी चादर सरकाई, तो चेहरे पर वही शान्ति, वही धारज और होंठों पर वही धीमी, मीठी मुस्कान खेल रही थी. तीन घंटे में ज़्यादा इतनी कड़ी तकलीफ़ें सहने के बाद भी उनके माथे पर एक सिकुड़न तक नहीं थी. सुना है कि बापू के चेहरे पर भी तो ऐसी ही शान्ति बिराज रही थी.

बेजान देह को नहला धुला कर खादी में लपेटा और डोले में रख कर बाहर ले जाया गया. हजारों लोग आखिरी दर्शनों को आ जा रहे थे और बाहर खड़े इन्तज़ार कर रहे थे. माँ बेहोश सी थी, उनको बड़ी मुश्किल से घर से बाहर निकलने से रोका गया. फिर भी वह पागलों की तरह पूरी ताकत से अपने को सबसे लुढ़ाकर फाटक पर आ गईं. डोला मोटर पर रखा गया और जैसे ही मोटर स्टार्ट हुई, माँ पूरी ताकत से चिल्लाई—“शोएबुल्ला खान जिन्दावाद.”

तमाम जनता ने सिसकती हुई आवाज़ में उनका साथ दिया—  
“शोएबुल्ला खान जिन्दावाद.”

# आह ! शहीद शोएब !!

## यह तुझ पर किसके हाथ उठे !!!

( लेखक - श्री हरिश्चन्द्र जी ठेडा )

गुजरें दिनों की पुरानी आदत में बेवफ़ाई कर, हैदराबाद शहर खामोशी की चादर ओढ़े गहरी नींद सो रहा था. आकाश पर तैरते चाँद की झिलमिलाती किरणें चाँदी उंडेल उसे नहला रही थीं. उस मनहूस दिन, अगस्त की २१ तारीख को गत के दो बच्चा चाहते थे. चारों ओर हू का आलम था. हर चीज़ मानो मौत की गोद में अटूट नींद सो रही थी. मालूम होता था जैसे सारी सृष्टि पर फ़ालिज गिर गया हो. ज़मीन व आसमान का कोना कोना खामोश, चुपचाप बिना हिले डुले जैसे सज्दे में गिरा हुआ था. लेकिन एक जगह शायद कोई चहल-पहल हो. वह जगह जिसे मुजाहिदे आजम का सरकारी बड़ा दफ़तर कहते हैं. इसकी चाल तो दुनिया से निराली होगी ही. पर नहीं. ओह ! मालूम होता है आज चाँद की तबाशीर बिखेरती चाँदनी ने, इसके चारों ओर अपना जादू डाल, आखिर इसे भी बेहोशी की दवा पिला ही दी. पर यह क्या ? यह कैसी आबाज है. दारुस्सलाम के पास यह किसके क़दमों की चाप सुनाई दे रही है ? कोई क़दम बढ़ाता चला आ रहा है. वह नज़दीक आ रहा है. अब तो कुछ-कुछ साफ़ भी दिखाई देने लगा. यह तो कोई हाथों में एक गठरी उठाए हुए है.

रात की देवी ने अपना मंत्र फूँक सारी दुनिया को तो बेकार कर दिया था. पर यह मन चला, हाथों में गठरी दबाए, जोश की हालत में, तेज़ कदम उठाता, आगे ही आगे चला आ रहा है यह कौन होगा ? धरती का चलता फिरता कोई जिंदा मनुष्य या कोई भूत प्रेत ? बड़े बूढ़े कहा करते थे कि बुरी आत्मायें अकेले में भटका करती हैं. वह किसी को उजाड़ने, तबाह बरबाद करने निकलती हैं और किसी पर बुरी नियत कर, किसी की बनती बिगाड़ने में ही उनको आनन्द आता है. वरना इस सुनसाने में इस खुशी से कौन जाता ? ..... ओह ! हे भगवान् !! यह तो भूत प्रेत नहीं है, कोई बुरी तड़पती हुई आत्मा भी नहीं, बल्कि यह तो कोई सचमुच माँस और हड्डी गोश्त पोस्त का बना इनसान है जो तेज़ी से छलांगता, फाँटता भागा चला आ रहा है. अगर मेरी आँखें मुझे धोका नहीं दे रहीं तो यह वर्दी !..... उस पर लटकती हुई यह बंदूक और तलवार !! यह कोई रजाकार तो नहीं ? रजाकार, जिसके जुल्म के कारनामे सुन रौंगटे खड़े हो जाते हैं, बदन में कंपकंपी पैदा हो जाती है. जिसके जुर्मों की करतूत एक कभी न खतम होने वाली कहानी है. बिलकुल वही मालूम होता है. आह !... वही है. और कोई हो भी कौन सकता है. इस अधियारी जगह जहाँ न कोई क़ानून चलता है न ही कोई पूछने या टोकने वाला है. और किसी की भला क्या हिम्मत कि फ़ौजी वर्दी पहने, खौफ़नाक हथियार बाँधे घूम फिर सकने की सोचे. एक करेला दूसरे नीम चढ़ा. यही रंग दंग तो इसकी करतूतों में एक नई बात जोड़ देते हैं. तो क्या आज कहीं हमला होगा, किसी को लूटा खसोटा जायगा; या फिर .... किसी की जान ली जायगी ? आज़ाद लोक राज के लिए लड़ रहे, किसी शरीफ़ सिपाही की जावन ज्योति बुझाने को यह आँधी का सामान तो नहीं इकट्ठा किया जा रहा ? परमात्मा जाने... यह आधी रात बीते दाह-स्सलाम में इसे ऐसा भी क्या काम आन पड़ा ? उस गठरी में भला क्या हो सकता है ? कोई क़ीमती तोहफ़ा या कोई... डरावना हथियार. पर नहीं, यह चीज़ें नहीं हो सकतीं. इन बेरहम डाकुओं के सरदार के

पास ऐसी चीज़ों की कमी नहीं है. अब वह इन के पीछे कहाँ ठोकें खाता होगा.

इसकी वर्दी कहती है कि यह तो रज़ाकार सालार है...लो वह दरवाजे के सामने ठहर गया. रात को इस सियाह तारीकी में सालार को खुश-खुश आता देख, पहरेदार के होटों पर भी मुस्कराहट खेलने लगी. सालार की अन्दर जाते ही अपने मालिक पर निगाह पड़ी. वह परेशान हुआ, बेचैनी से कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक चक्कर काट रहा था. क्या वह इसी मुलाक़ात का बेसवरी से इंतज़ार कर रहा था या किसी और ही दूसरी बात पर भुंभला रहा है.

सालार को उसी दम अन्दर जाने की इजाज़त मिल गई.

“अल्ला हो अकबर” बरकतपुर के रजाकार सालार ने ठाठ से सलाम ठोकते हुए कहा.

कुछ जवाब देने से पहले मुजाहिदे आजम ने सालार पर एक गहरी नज़र डाली और फिर बोला—“कहो सालार, आज तुम बहुत खुश दिखाई दे रहे हो. यह तुम्हारे हाथ में क्या है?”

“यह एक क़ीमती तोहफ़ा है सरकार. जिसे अपने रहनुमा की ख़िदमत में पेश करने की इज़ाज़त मुझे मिल रही है. यह उस शद्दार का हाथ है जो कभी काफ़िर शोऐबुल्ला ख़ान कहलाता था.”

“शोएब !” मुजाहदे आजम ने चिल्लाकर हैरानी में पूछा और उस बंडल को लेने को उसके हाथ आगे बढ़े. उसके चेहरे से साफ़ टपकता था कि इसमें वह एक इज़ाज़त महसूस करता है. उसने सालार की तरफ़ कुछ इस तरह देखा जैसे इतनी बात से उसकी अभी तसल्ली नहीं हुई. उसके कान अभी कुछ और सुनना चाहते हैं.

“मैंने पहले उस पर गोली चलाई और फिर अपनी तलवार से उसका हाथ काट डाला. एक बार में ही उसका हाथ मेरे हाथ में था. सारी बात इतनी आसानी से हो गई कि बच्चों का खेल मालूम हुई. रात के एक बजे,

आह ! शहीद शोएज !! यह तुझ पर किसके हाथ उठे !!!

१०५

दरख्त के पीछे झुप कर, निहत्थे आदमी पर निशाना साध देना क्या मुश्किल था.”

“लेकिन तुम्हें कुछ तो देर लगी होगी. वह चिल्लाया भी तो होगा.”

“नहीं हुआ, जूर वाला, बिलकुल नहीं. वह तो एक ढीठ मंजा हुआ काफिर था. बच्चा जी चिल्ला कैसे पाते, इसके पहले कि कोई आता हमने जी खोलकर दो, तीन, चार, पाँच, क्या पूरे छै हाथ तलवार के दिए.”

“ओह ! तो ऐसे हुआ. क्या वह अपने इरादों में इतना बुज़दिल था ?” मुजाहिदे आज़म ने घबराई हुई आवाज़ में चिल्लाते हुए कहा. पर उसे अपनी आवाज़ में मिली हुई घबराहट अखरी. उसने फ़ौरन एकान्त के लिए कहा.

“तुम जा सकते हो. मैं बहुत खुश हूँ.” यह शब्द उसने बड़ी मुश्किल से कहे. उसे अपनी आवाज़ बेपहचानी मालूम हुई. और सालार, वह खुद हैरान था कि आखिर बात क्या है.

सालार उस समय जा चुका था.

“तुम क्या सचमुच खुश हो.”

“तुम ..... तुम कौन हो ?”

“तुम्हारी आत्मा”

“क्या तुम अभी तक ज़िंदा हो ? जी चाहता है तुम्हें इसी दम मौत के घाट उतार दूँ.”

“तुम ऐसा कर ही नहीं सकते. सुनो, हम दोनों इकट्ठे मरेंगे. खैर छोड़ो. यह तो बताओ कि जो कुछ तुम्हारे रज़ाकारों ने किया है क्या वह वाकई जायज़ और ठीक किया है ?”

“हाँ, हाँ, क्यों नहीं. वह बहादुर हैं. उनकी रगों में जवान खून है और यह काम उनकी बहादुरी का एक नमूना है.”

“ऐसी बेवक़ूफी की बातें मेरे सामने न करो. तुम मुझे धोका नहीं दे

सकते, तुम अपने रजाकारों को बहका सकते हो. तुम उन्हें अलिफ़ लैला की कोई ऐसी कहानी सुनाकर कि आठ रजाकार हिन्दुस्तानी फ़ौज के सात सौ सिपाहियों से लगातार सात घंटे लड़ते रहे, अपना उल्लू सीधा कर सकते हो; पर मुझे नहीं बहला सकते.

“सुनो, तुम डरपोक हो और यह काम बुज़दिली का है. तुम्हारा रजाकार भी इस बात को मान लेगा कि इस काम में रत्ती भर भी उसे बहादुरी नहीं दिखानी पड़ी. उसे ज़रा सरहद तक भेज के देखो, तो तुम्हें सब आटे दाल का भाव मालूम हो जावेगा. उसकी बहादुरी जानना चाहते हो तो वहीं पता चल जायगा कि वह कितने पानी में है. यह काम न सिर्फ़ डरपोकों का था बल्कि अहमकों का भी”

मुजाहिदे आज़म का मुँह लटक गया.

“इस बेरहमी के क़त्ल मे तुम्हें क्या फ़ायदा पहुँचा ?”

“मुझे ? मुझे फ़ायदा क्यों नहीं पहुँचा. संसार से मेरा एक दुश्मन उठ गया. क्या यह फ़ायदा नहीं ?”

“आहा हाहा !” आवाज़ ने हंसते हुए कहा—“अगर तुम्हारा यही खयाल है तो तुम बच्चे हो और बेवकूफ़ हो. तुम यू० एन० ओ० के पास जा रहे हो. तुम्हारे इसी काम ने तुम्हारे नंगे रूप में तुम्हें वहशी साबित कर दिया है. अब इस बात में कोई शक नहीं रहा कि तुम लोग सिर्फ़ मज़हबी दीवाने हो.”

“यह ग़लत है. ऐसा कभी नहीं हो सकता.”

“तुम पर चढ़ा मज़हबी रंग तो देर हुई जब साबित हो गया था.

“मुस्लिम रियासत और मुस्लिम हुकूमत’ का नारा ही इस बात का दलील है. अपने विचारों से मेल न खाने वाली राय तुम दबी ज़बान से भी सुनना नहीं चाहते चाहे वह किसी मुसलमान ही की आवाज़ क्यों न हो. अगर ऐसा न होता तो आज शोएब शहीद न होता. क्यों ? अब चुप क्यों हो गए ? यही है तुम्हारा फ़ासिस्ट कैरेक्टर. तुम मज़हबी दीवाने हो. तुम मुतअस्सिन्न हो इसलिए तुम खुद नहीं जानते कि क्या

कर रहे हो. तुम पागलपन के हुक्म देना जानते हो और तुम्हारे रजाकार, उसे आंखें और कान बंद करके मानना.”

‘क्यों कहा ? पागलपन ! तुम इसे पागलपन कहते हो ?

‘हाँ मैं पागलपन कहता हूँ. तुम मुझे डरा और घमका नहीं सकते. मैं बुज़दिल और कमज़ोर नहीं हूँ. तुमने कहा—‘गद्दारों के हाथ काट डालो’ और कहने भर की देर थी कि तुम्हारे रजाकारों ने इस आज्ञा का आंखें मूंद पालन करना शुरू कर दिया. कितने मजहबी अंधे हो तुम और तुम्हारे रजाकार. तुम सोचते भी तो नहीं.” मुजाहिदे आज़म के पास इस बात का जवाब कुछ न था.

‘ज़रा सोचो दुनिया क्या कहेगी. लोक राए को सोचो.

‘क्या इन बातों के बाद भी वह तुमसे हमदर्दी करेंगे ? शायद मतलबी लोग तुम्हारे हक में हो भी जाते. पर तुम इस दरजे के फ़ासिस्ट हो और इतने मजहबी पागलपन में रंगे हुए हो कि वह लोग भी कुछ नहीं कर सकते. यू० एन० ओ० के हां भी तुमने अपनी बाज़ी खुद अपने हाथों उलट दी. तुमने खुद मुसीबत को आने के लिए दावत दी है. हिन्दुस्तान अपनी फ़ौजें अब भेजेगा”

‘वह ऐसा नहीं कर सकते !”

‘क्यों नहीं कह सकते ? जब रियासत में प्रजा के जान व माल की हिफ़ाज़त नहीं हो रही तो इसके सिवा उनके पास चारा ही क्या है ?”

‘लेकिन मैं बनियों और ब्राह्मणों से डरने वाला नहीं हूँ.”

‘हा ! हा ! हा ! आहा हाहा हा ! तो जाओ, मैदाने जंग में जाकर अपने आपको आज़मा देखो. तुम मुझसे भूट बोलने की कोशिश करते हो ?”

मुजाहिदे आज़म के काटो तो लहू नहीं था. उसका चेहरा काला और डरावना दिखाई देने लगा. हर घड़ी वह चेहरा और भी भयंकर होता गया. अपनी आत्मा की आवाज़ को कौन देर तक कुचले रख सकता है. जीत उसी की हुई. बाज़ी आत्मा के हाथ रही. हम नहीं

जानते कि वह कितनी देर तक वहाँ तड़पता रहा और चिल्लाता रहा. आत्मा का बोझ उसे पहाड़ की तरह महसूस होता था और आखिरी समय का डर उसके दिल पर बुरी तरह छा गया था. पर हमें इतना मालूम है कि जब पहरेदार ने कमरे में आकर 'मुजाहिदे आज़म' कहा तो वह खीज कर चीख उठा 'नरक में चला गया है मुजाहिदे आज़म' और वह संतरी तो यहाँ तक कहता है कि उसकी अपनी आँखों के सामने से मुजाहिदे आज़म दूर परे हटता गया. और दूर, और दूर यहाँ तक कि हवा के परदों में वह घुल मिल कर ओभूल हो गया.

पर क्या यह सच है ? हाँ सोलह आने सच. वह गये के सिर से सींग की तरह गायब हो रहा है और वह दिन दूर नहीं जब हम अपने कानों से सुनेगे कि आखिर वह अपनी मंज़िल पर पहुँच ही गया. उसकी आखिरी मंज़िल यानी —जहन्नूम.

और शोएब !

वह हर हैदराबादी के दिल में हमेशा के लिये अपनी जगह बना कर बैठ गया है.

[ अनुवादक श्री जितेन्द्र कौशिक ]

## आखिरी श्रद्धांजलि

[ पंडित जवाहरलाल नेहरू का वह तारीखी भाषण जो उन्होंने १२ फरवरी '४८ को इलाहाबाद में संगम के किनारे दिया था. ]

आखिरी सफर खतम हो गया है और इस पवित्र सफर की आखिरी मंजिल भी तय हो चुकी है. देश की इस लम्बी चौड़ी धरती पर गांधी जी पचास साल तक घूमते रहे. उन्होंने हिमालय पर्वत, उत्तरी-पच्छिमी सरहदी सूबा और उत्तर व पूरब में ब्रह्मपुत्र नदी से लेकर दक्खिन में कन्या कुमारी तक सफर किया और वह इस देश के एक-एक भाग और एक-एक कोने में गये. एक यात्री और यात्रा का आनन्द लेने वाले के रूप में नहीं बल्कि इस देश के निवासियों की हालत और मुशकिलों को समझने और उनकी सेवा करने के लिये. शायद इतिहास किसी ऐसे व्यक्ति का नाम नहीं पेश कर सकता जिसने गांधी जी की तरह इस देश के कोने-कोने का सफर किया हो, जनता की हालत को उनकी तरह समझा हो और उनकी तरह लगातार सेवा करता रहा हो. लेकिन अब इस दुनिया में उनका सफर खतम हो गया है. हालाँकि हमें अभी कुछ दिनों और सफर करना है. बहुत से लोग रंज और मातम कर रहे हैं और

यह मुनासिब और कुदरती बात भी है. लेकिन सवाल यह है कि आखिर हम मातम क्यों करें ? क्या हम गांधी जी का दुःख मना रहे हैं, या किसी और चीज का ? उनके जीवन की तरह उनकी मौत में भी एक ऐसा चमक मौजूद है जो आने वाले जमाने में सदियों तक हमारे देश का रोशन करती रहेगी. फिर हम गांधी जी के लिये शाक क्या मनायें ? हमें तो अपने लिये रोना चाहिये. अपनी कमजोरियां पर शाक मनाना चाहिये. हमें अपनी छाता तो अपने दिलों का सियाही, अपने मतभेदों, अपने भगड़ों के लिये पाटना चाहिये. याद रखिये कि गांधी जी ने हमारी इन्हीं बुराइयों का दूर करने के लिये अपनी जान दी है और पिछले कुछ महीनों में उन्होंने पूरा ध्यान और सारी शक्ति इसी पर लगाई है. अगर हम उनका इज्जत करते हैं तो मैं पूछता हूँ कि यह इज्जत उनके नाम की हानि चाहिये या उन सिद्धान्तों की जिनको गांधी जी बकालत करते रहे हैं, उन तालीमों और सलाहों की जा वह देते रहे हैं और खास तौर पर उस बात की जिसके लिये गांधी जी ने अपनी जान दी है.

आज गंगा के किनारे पर खड़े हुए हमें अपने दिलों को टटोलना और अपने आपसे यह सवाल करना चाहिये कि हम गांधी जी के बताये हुए रास्ते पर कहाँ तक चले हैं और हमने दूसरों के साथ शान्ति और सहयोग के साथ जीवन बिताने की किस हद तक कोशिश की है ? अगर आज भी हम सीधा रास्ता अपना लें तो यह चीज हमारे देश के लिये बहुत ही अच्छी होगी.

हमारे देश ने एक महान इन्सान को जन्म दिया था और यह व्यक्ति हिन्दुस्तान ही के लिये नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिये रोशनी की हैसियत रखता था. लेकिन उसे हमारे भाइयों और हमारे देशवासियों ने मौत के घाट उतार दिया. ऐसा क्यों हुआ ? आप कहेंगे कि यह एक पागलपन का काम था लेकिन इससे इस दुर्घटना की व्याख्या नहीं हो सकती. बल्कि यह दुर्घटना सिर्फ इसलिये हो सकी कि हमका बीज नफरत और दुश्मनी के जहर में बोया गया था. फिर उस पेड़ की जड़ें सारे देश में फैल गईं और इससे हमारी क्रोम के बेशुमार लोगों पर असर पड़ा. इसी बीज से यह जहरीला पौधा पैदा हुआ. इसलिये हमारा फ़र्ज है कि हम नफरत और अविश्वास के इस जहर का मुकाबला करें. अगर हमने गांधी जी से कोई सबक लिया है तो हमें अपने दिल में किसी व्यक्ति क तरफ से भी नफरत और दुश्मनी नहीं रखनी चाहिये. हमारा दुश्मन कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि हमारा दुश्मन तो वह जहर है जो लोगों के अन्दर मौजूद है. हम उसी का मुकाबला करते हैं और हमें उसी को ख़तम करना चाहिये. हम निर्बल और कमज़ोर हैं लेकिन एक हद तक गांधी जी की शक्ति भी हमारे साथ शामिल हो गई है. उनकी जीत और फ़तेह की परछाइयाँ हमारी शारीरिक शक्ति बढ़ाने का कारन भी बनी हैं. ताक़त और बढ़ाई उन्हीं की थी और वह रास्ता भी जो उन्होंने हमें दिखाया था, उन्हीं का रास्ता था. हम उस रास्ते पर चलते और गांधी जी की खादिश के अनुसार अपने देशवासियों की सेवा करने

की कोशिश करते हुए बार-बार डगमगाये और अकसर गिर भी पड़े.

अब हमारी ताकत का सहारा मौजूद नहीं. लेकिन मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिये. आज यहाँ जो दस लाख आदमी मौजूद हैं उनके दिल में गांधी जी की मूर्ती रखी हुई है और हमारे वह करोड़ों देशवासी भी जो यहाँ मौजूद नहीं हैं उन्हें कभी भूल नहीं सकते. फिर आने वाली वह पीढ़ियाँ भी, जिन्होंने न तो उन्हें देखा है और न अभी तक उनके बारे में कुछ सुना है, इस मूर्ती को अपने दिल में जगह देंगी क्योंकि अब यह मूर्ती हिन्दुस्तान की विरासत और तारीख का एक अंश बन गई है. आज से तीस या चालीस साल पहले वह जमाना शुरू हुआ था जिसे 'गांधी युग' के नाम से याद किया जाता है और आज यह युग खतम होगया.... लेकिन नहीं, मैंने यह बात गलत कहा है क्योंकि यह युग खतम नहीं हुआ बल्कि शायद यह युग सच्चे मानी में अब शुरू हुआ है. लेकिन किसी हद तक बदले हुए रूप में. उस वक़्त तक हम सलाह और सहायता के लिये उनकी तरफ देखते रहते थे लेकिन अब आगे हमें अपने पैरों पर खड़ा होना और अपनी जान पर भरोसा करना पड़ेगा. हमारी खाहिश है कि उनकी याद हमारे अन्दर अमल का जज्बा पैदा करे और उनकी तालीम हमारे रास्ते को रोशन करती रहे. हमें उनके इस बार-बार दिये हुए संदेश को याद रखना चाहिये कि—अपने दिलों से डर और भगड़े फ़साद के भाव को निकाल दो, हिंसा को खतम कर दो और आपस के

भगड़ों को सदा के लिये भुला कर अपने देश की आजादी को बनाये रखना।

गांधी जी हमें आजादी की मंजिल तक लाये और इस मंजिल तक पहुँचने के लिये जो रास्ता अपनाया, दुनिया उसे देख कर हैरान रह गई. लेकिन आजादी मिलने के बाद उसी छन हमने अपने गुरु की शिक्षा को भुला दिया. हैवानियत और बरबरियत की एक लहर ने हमारी क्राँम पर काबू पा लिया और सारी दुनिया में हिन्दुस्तान क उजले और खूबसूरत नाम को बट्टा लग गया. हमारे बहुत से नौजवान बहक कर गलत रास्ते पर पड़ गये. क्या हमें उन्हें अपने दायरे से निकाल देना या कुचल डालना चाहिये ? नहीं ! वह हमारी ही क्राँम के लोग हैं. हमें उनके गलत विचारों को बदल कर उन्हें सही विचारों के साँचे में ढालना और उनको सही शिक्षा देनी चाहिये.

अगर हम होशियार न रहे और हमने वक़्त पर सही क़दम न उठाया तो फिरकापरस्ती का वह ज़हर, जो हमारी मौजूदा तबाही का कारन बना है, हमारी आजादी को ही ख़तम कर देगा. दो तीन हफ़ता पहले गांधी जी ने आखिरी बार जो व्रत शुरू किया था उसका मक़सद यही था कि हम ग़लत की नींद से जाग कर उस ख़तरे का देख सकें, जो हमारे सरोँ पर मँडरा रहा है. उनकी इस अपनी मर्ज़ी से की हुई सरफ़रोशी ने क्राँम की आत्मा को जगा दिया था और हमने उनके सामने इस बात का वचन दिया था कि अब हम अच्छे रास्ते पर चलेंगे और

हमारे इस यक्रीन दिलाने के बाद ही वह व्रत तोड़ने पर राजी हुए थे.

गांधी जी हफ्ते में एक दिन खामोश रहा करते थे. लेकिन अब वह आवाज हमेशा के लिये खामोश हो गई और यह मौन सदा के लिये रहेगा. लेकिन फिर भी वह आवाज इस वक्त भी हमारे कानों में आ रही है और हमारे दिल उसे सुन रहे हैं. हमारे देश-वासी हमेशा दिल के कानों से इस आवाज को सुनते रहेंगे. इतना ही नहीं, बल्कि यह आवाज हजारों साल तक हिन्दुस्तान की सरहद के पार भी गूँजती रहेगी. क्यों ? इस लिये कि यह आवाज सच्चाई की थी और अगरचे कभी कभी सच्चाई की आवाज को दबा भी दिया जाता है लेकिन इसे खतम नहीं किया जा सकता. गांधी जी के नज़दीक हिंसा सच्चाई के उलटे रूप की हैसियत रखती थी इसलिये उन्होंने हमारे सामने अमली हिंसा की ही नहीं बल्कि दिल और दिमाग में हिंसा का खयाल लाने के खिलाफ भी प्रचार किया. अगर हम अपने बीच जाहिर होने वाली हिंसा को बन्द न करेंगे, एक दूसरे के मुक्काबले में इन्तहाई सब्र व बरदारत और दोस्ती का सबूत न देंगे तो एक क्राँम की हैसियत से हमारा भविष्य त्रिलकुल तारीक हो जायगा. हिंसा के रास्ते में मुसीबतें हैं और जहाँ हिंसा काम करती है वहाँ आज़ादी की देवी आम तौर से बहुत दिनों तक नहीं टिकती. अगर हमारे बीच हिंसा का जज्बा और आपसी झगड़े मौजूद हैं तो स्वराज्य और जनता की आज़ादी का जिक्र एक बेमानी बात है.

„इस मजमे में मुझे हिन्दुस्तानी फौज के बहुत से सिपाही भी नज़र आ रहे हैं. उनके लिये इस मुल्क की सरहदों और इज्जत की हिफाज़त करना एक गौरव का काम है. लेकिन वह यह काम उसी वक्त कर सकते हैं जब वह एक होकर काम करें. अगर खुद उनके बीच मतभेद पैदा हो गया तो फिर उनकी ताकत की क्या कद्र व कीमत बाकी रह सकती है, और वह किस तरह अपने देश की सेवा कर सकते हैं.

लोकशाही आपस में संगठन, संयम और एक दूसरे का लेहाज़ा रखने की माँग करती है और आज़ादी का तत्काज़ा यह है कि दूसरों की आज़ादी का भी आदर किया जाय. लोकशाही सरकारों के मातहत जो तबदीलियाँ की जाती हैं वह आपस की बात चीत और रज़ामंदी के तरीके पर की जाती हैं. हिंसा के साधन इस्तेमाल करके नहीं की जाती. अगर किसी सरकार को जनता की हिमायत हासिल नहीं होती तो दूसरी सरकार, जिसे यह हिमायत हासिल होता है, उसकी जगह ले लेती है. हाँ कुछ छोटी-छोटी पार्टियाँ, जिन्हें जनता का समर्थन और हिमायत हासिल नहीं होती, वह हिंसा की कारवाइयाँ करने पर उतर आती हैं और अपनी हिमाक़त के कारन यह समझती हैं कि इस तरह वह अपने मक़सद का हासिल कर लेंगी. उनका यह ख़याल सिर्फ़ ग़लत ही नहीं बल्कि बेवकूफी से भी भरा होता है, क्योंकि इन थोड़े से लोगों की इस हिंसा का जिससे वह ज़्यादा लोगों को डराने की कोशिश करती हैं, यह नतीजा होता है कि ज़्यादा लोग भी जोश में आकर हिंसा पर उतर आते हैं.

इस जबरदस्त दुर्घटना के होने का कारन यह है कि बहुत से लोगों ने, जिनमें कुछ बड़ी हैसियत के लोग भी हैं, हमारे देश की हवा को जहरीला बना दिया है. सरकार और जनता का कर्ज है कि वह इस जहर के असर की जड़ तक उखाड़ कर फेंक दे. हमने यह सबक इतनी क्रीमत् अदा करने के बाद हासिल किया है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. क्या इस वक़्त भी यहाँ हमारे बीच कोई ऐसा व्यक्ति मौजूद है जो गांधी जी के बाद भी उनका मिशन पूरा करने के लिये प्रतिज्ञा न करेगा ? उस मिशन को पूरा करने की प्रतिज्ञा, जिसके लिये हमारे देश की ही सबसे बड़ी हस्ती नहीं बल्कि दुनिया की सबसे बड़ी हस्ती ने अपनी जान कुरबान कर दी.

आप, मैं ग़रज कि हम सब अपने देश की इस पवित्र जमुना नदी के रेतीले मैदान से अपने अपने घर चले जायँगे, हमें तनहाई और उदासी महसूस होगी और अब हम फिर कभी गांधी जी को न देख सकेंगे. जब कभी हमारे सामने कोई अहम सवाल आ जाता था, जब किसी मामले में कोई शक व शुबह पैदा हो जाता था तो हम सलाह और रहनुमाई हासिल करने के लिये गांधी जी के पास चले जाते थे, लेकिन अब हमें सलाह देने और हमारे बोझ को हलका करने के लिये कोई हस्ती मौजूद नहीं. फिर अकेला मैं या चन्द लोग ही गांधी जी की मदद हासिल करने के लिये उनकी तरफ नहीं देखते थे बल्कि इस देश के हज़ारों नहीं बल्कि लाखों आदमी उन्हें अपना दोस्त और सलाहकार समझते थे. हम लोग महसूस करते हैं कि

उनके सामने हमारी हैसियत बच्चों जैसी थी। वह सही तौर पर क्रौम के बाप कहलाते थे और आज करोड़ों घरों में इसी तरह शोक मनाया जा रहा है जिस तरह अपने प्यारे बाप की मौत पर मनाया जाता है।

हाँ, तो हम नदी के इस किनारे से उदास और गमगीन वापस जायँगे लेकिन हम इस बात पर फ़ख़ भी करेंगे कि हमें अपने सरदार, अपने रहनुमा, अपने दोस्त और उस महापुरुष को देखने, उसके साथ रहने, उससे बात करने और उसे उसकी आखिरी मंजिल तक पहुँचाने का गौरव प्राप्त हुआ है जिसने हमें आज्ञादी और सच्चाई के रास्ते की इन्तहाई ऊँचाई पर पहुँचाया था। संघर्ष और जदोजेहद का रास्ता भी, जो गांधी जी ने हमें बताया था, सच्चाई का ही रास्ता था। इस बात को भूलना नहीं चाहिये कि उन्होंने हमें जो राह दिखाई थी, वह हिमालय की चोटियों पर खामोशी के साथ बैठने की राह नहीं बल्कि नेकी के लिये बुराई के साथ जंग करने की राह थी। इसलिये हमें मैदान से बच निकलने और आगम करने की राहें तलाश करने के बजाय लड़ते रहना चाहिये। हमें अपना फ़र्ज अदा करना और उस अहद को पूरा करना है जो हमने गांधी जी के सामने किया था। हमें सच्चाई और धर्म के रास्ते पर चलना चाहिये और हिन्दुस्तान को एक ऐसा महान देश बना देना चाहिये जहाँ विश्वास और शान्ति की हवा मौजूद हो और धर्म व जाति के भेद भाव के बग़ैर हर मर्द और औरत इज्जत और आज्ञादी का जीवन बिता सके।

हम कितनी बार महात्मा जी की जय का नारा बुलन्द करते हैं और यह नारा लगाकर हम खयाल कर लेते हैं कि हमने खपना फर्ज अदा कर दिया है. गांधी जी को इस शोर गुल से हमेशा तक-लीफ़ महसूस होती थी क्योंकि वह जानते थे कि यह नारा बेहक्रीकत है और कभी कभी काम करने और सांच विचार करने की जगह भी नारों को ही दी जाती थी. महात्मा जी की जय का मतलब है महात्मा जी की जीत हो. लेकिन हम गांधी जी के लिये किस जीत की तमन्ना कर सकते हैं ? उन्हें तो जिन्दगी और मौत दोनों में जीत हासिल हुई. अब तो आपको, मुझे और इस वदनसीब मुल्क को विजय हासिल करने के लिये संघर्ष की जरूरत है.

जिन्दगी भर गांधी जी हिन्दुस्तान को गरीबों और दबी कुचली हुई जनता को निगाह से देखते रहे. उनकी जिन्दगी का मिशन उनको ऊँचा उठाना और आजाद कराना था. उन्होंने अपनी जिन्दगी को उन्हीं जैसा बना लिया और उन्हीं जैसा लिबास पहनने लगे, जिसमें कि मुल्क से छॉटे बड़े का भेद उठ जाय. गांधी जी की जय का मतलब दर असल उन लोगों की आजादी और तरक्की ही है.

गांधी जी हमारे लिये किस तरह की जीत और कामयाबी चाहते थे ? वह जीत और कामयाबी नहीं जिसे हासिल करने के लिये बहुत सी क्रौमें और देश हिंसा, धोका व फरेब और बुराइयों के जरिये इख्तियार कर रहे हैं. इस तरह की जीत टिकाऊ नहीं होती. टिकाऊ जीत और विजय को बुनियाद तो सच्चाई की चट्टान पर ही रखी जा सकती है. गांधी जी ने हमें आजादी की लड़ाई के ढंग

और डिप्लोमेसी की नई राह दिखाई है और उन्होंने राजनीति में सच्चाई, आपस का विश्वास और अहिंसा का इस्तेमाल करके दुनिया को अपने तजरबे की कामयाबी दिखलादी है. उन्होंने हमें सियासी और मजहबी विश्वासों के अलग-अलग होने के बावजूद एक हिन्दुस्तानी और शहरी होने के नाते हर इन्सान की इज्जत करने और उसके साथ सहयोग करने का सबक दिया है. हम सब भारत माता के बेटे हैं और हमें इसी देश में जीना और यहीं मरना है. हमने जो आजादी हासिल की है उसमें हम सब बराबर के शरीक हैं और आजाद हिन्दुस्तान तरक्की की जो सुविधायें पहुँचा सकता है और आजादी के कारन जो फायदे हो सकते हैं, हमारे देश के सारे निवासियों का उनपर बराबर का हक है. गांधी जी ने कुछ चुने हुए लोगों के फायदे के लिये ही यह लड़ाई नहीं लड़ी थी और न उनके जान देने का मकसद ही यह है. हमें गांधी जी के ही बताये हुए रास्ते पर चलकर उन्हीं के मकसदों को पूरा करने की कोशिश करनी चाहिये. उसी समय हम अपने को 'गांधी जी की जय' का नारा लगाने का सही अधिकारी साबित कर सकेंगे.

श्री रतन लाल बंसल की दूसरी किताब—

## मुस्लिम देशभक्त

पिछले बरसों में अंग्रेजों के इशारे पर हमारे देश में इस बात का काफी प्रचार किया गया कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई में कभी हिस्सा नहीं लिया. इस प्रचार से जो ज़हर फैला, उसका नतीजा हमारे सामने है. आजादी की लड़ाई के पिछले दौर में मुसलमान जनता जिस तरह उससे दूर दूर रही और हिन्दू जिन तरह आज हर एक मुसलमान को देश का दुश्मन मान बैठे हैं, वह सब इसी प्रचार का नतीजा है.

लेकिन यह किताब इस ग़लत-फहमी को मिटाने में काफी मदद कर सकती है. इसमें उन मुसलमान देशभक्तों का इतिहास है, जिन्होंने अंग्रेजों के आते ही उनका यहाँ से हटाने की कोशिशें शुरू कर दी थी. उनकी कुरबानियों की कहानियाँ आपके दिलों को रोशनी से भर देगी. त्याहारों के ऊपर मुसलमान भाई अपने हिन्दू दोस्तों को और हिन्दू अपने मुसलमान दास्तों का यह किताब भेंट कर सकते हैं. यह किताब हिन्दी उर्दू दानों लिखावट में मिल सकती है.

सुन्दर जिल्द के साथ किताब का दाम सिर्फ एक रुपया बारह आने की किताब है. महसूल डाक ग्राहक के जिम्मे.

मैनेजर—'नया हिन्दू' ४८, बाई का बाग़ इलाहाबाद.

---

गङ्गादान जायसवाल ने श्याम प्रिन्टिंग प्रेस,

इलाहाबाद में छपा.

















